उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-104(N)

रीडर

नाटक और अन्य

गद्य विधाएँ

हिन्दी गद्य विवेचना

(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
डॉ. जवरीमल्ल पारख

सहयोग
संजीव कुमार

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी	संकाय सदस्य
प्रो. गोपाल राय	प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रो. नामवर सिंह	(कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. नित्यानंद तिवारी	डॉ. जवरीमल्ल पारख
प्रो. निर्मला जैन	डॉ. रीता रानी पालीवाल
प्रो. प्रेम शंकर	डॉ. सत्यकाम
प्रो. मुजीब रिज़वी	डॉ. राकेश वत्स
प्रो. मैनेजर पाण्डेय	डॉ. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी	डॉ. नीलम फ़ारूक़ी
प्रो. लालन राय	श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
प्रो. शिवकुमार मिश्र	डॉ. विमल खांडेकर
स्व. शिव प्रसाद सिंह	
प्रो. सूरजभान सिंह	पाठ्यक्रम संयोजक
	डॉ. जवरीमल्ल पारख

निर्माण सहयोग

श्री कुलवंत सिंह	सचिवालय सहयोग एवं
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)	कैमरा रेडी कॉपी निर्माण
	श्री नरेश कुमार

अक्टूबर, 2001 (पुनः मुद्रण)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001
ISBN- 81-266-0314-1

सर्वाधिकार सुरक्षित । इस सामग्री के किसी भी अंश को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में. मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-68 से प्राप्त की जा सकती है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा - 281003.

विवरणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका 5

1. नाटक : हजारी प्रसाद द्विवेदी 11
2. 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का रंगमंचीय अध्ययन : डॉ. देवेन्द्र राज अंकुर 30
3. प्रसाद के नाटक : भाषा, भावबोध और मंचन : डॉ. विजयमोहन सिंह 39
4. निर्देशक की पहल : शांता गांधी 46
5. अधूरेपन की त्रासदी : नेमिचंद्र जैन 56
6. राकेश के नाटक : कुछ अंतस्सूत्र : डॉ. जगदीश शर्मा 61
7. अंधा युग : एक समीक्षा : गजानन माधव मुक्तिबोध 74
8. 'दायित्व गहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे' की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : 'अंधा युग' : डॉ. निर्मला जैन 78
9. भुवनेश्वर : एक दृष्टि : लक्ष्मीकांत वर्मा 86
10. नये नाटक के जन्मदाता : भुवनेश्वर : विपिन कुमार अग्रवाल 91
11. पारंपरिक रूपों और डिवाईसिज़ का सवाल : सफदर हाशमी 101
12. भुवनेश्वर और 'तांबे के कीड़े' 111
13. नुक्कड़ नाटक 'औरत' 131

आभार

इस पुस्तक में संग्रहीत रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने हेतु लेखकों, प्रकाशकों और कापीराइट धारकों के प्रति इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय आभार व्यक्त करता है।

भूमिका

एम.ए. हिंदी के पाठ्यक्रम-4 'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' से संबंधित पाठ्य सामग्री के अध्ययन के एक अंग के रूप में यह पुस्तक तैयार की गई है। अब तक आपने 'हिंदी गद्य विविधा' पुस्तक, चारों नाटक और छह खंडों में प्रस्तुत छब्बीस इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। इस पाठ्यक्रम में नाटक और अन्य गद्य विधाओं को शामिल किया गया है, उन पर हम आपको काफी सामग्री उपलब्ध करा चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि इनसे संबंधित कौन-सी पुस्तकें हैं जिनका आप अतिरिक्त अध्ययन सामग्री के रूप में अध्ययन कर सकते हैं। लेकिन ये सभी पुस्तकें संभव है आपको उपलब्ध न हो। साथ ही बहुत सी सामग्री ऐसी भी है जो पत्र-पत्रिकाओं में हैं। इसको ध्यान में रखते हुए हमने यह संग्रह तैयार किया है। इसमें शामिल सभी लेख पूर्व प्रकाशित हैं और विभिन्न पुस्तकों और पत्रिकाओं से लिये गए हैं।

प्रयत्न के बावजूद हम सभी गद्य रचनाओं पर लेख नहीं दे पाए हैं। लेकिन जो सामग्री हमने शामिल की है, वह आपको सभी नाटकों और अधिकांश गद्य विधाओं को समझने में मददगार होगी, ऐसी आशा है।

इस पुस्तक का पहला निबंध नाटक पर है जिसके लेखक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं। द्विवेदीजी का यह लेख उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'साहित्य सहचर' से लिया गया है जिसमें नाटक के अलावा भी साहित्य की कई अन्य विधाओं पर निबंध संग्रहीत हैं। इसमें द्विवेदीजी ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के नियमों की सरल व्याख्या प्रस्तुत की है। अपनी बात को उन्होंने प्रख्यात नाटकों का उदाहरण देकर समझाया है। द्विवेदीजी का प्रयत्न यह भी रहा है कि नाटक संबंधी नियमों को वर्तमान नाटक और रंगमंच के संदर्भ में रखकर देखें और बताएँ कि ये नियम अब कितने प्रासंगिक है या नहीं है। द्विवेदीजी ने अपने इस निबंध में संस्कृत नाटकों से लेकर हिंदी के नाटकों तक की यथावश्यक चर्चा की है, और उनकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। यहाँ इस निबंध को शामिल करने का उद्देश्य पाठ्यक्रम में शामिल नाटकों को समझने का शास्त्रीय आधार प्रदान करना है।

पुस्तक का दूसरा निबंध प्रख्यात रंगकर्मी डॉ. देवेन्द्रराज 'अंकुर' का है, जिसमें उन्होंने भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रहसन 'अंधेर नगरी' के रंगमंचीय पहलुओं पर विचार किया है। 120 साल पहले लिखे गए इस नाटक की लोकप्रियता और प्रासंगिकता अभी भी पूर्ववत् विद्यमान है। रंगमंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से इस नाटक का क्या महत्व है इसी पर लेखक

ने प्रकाश डाला है। लेखक ने सत्यव्रत सिन्हा, ब.व. कारंत और स्वयं द्वारा की गई प्रस्तुति पर विचार किया है। लेखक का बल इस बात पर है कि 'अंधेर नगरी' में नयी-नयी अर्थ भंगिमाओं और नये-नये रंगमंचीय प्रयोगों की प्रबल संभावनाएँ निहित हैं।

अगले दो निबंध जयशंकर प्रसाद के नाटकों से संबंधित हैं। पहला निबंध कथाकार और आलोचक विजयमोहन सिंह का है जिसमें उन्होंने प्रसाद के नाटकों की भाषा, भावबोध और मंचन से संबंधित विचार प्रस्तुत किए हैं जबकि दूसरा लेख रंगकर्मी शांता गांधी का लिखा हुआ है। उन्होंने 'स्कंदगुप्त' नाटक की मंचीय प्रस्तुति पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने मंचन में आने वाली कठिनाइयों और उससे निकलने के उपायों पर प्रकाश डाला है। विजयमोहन सिंह ने प्रसाद के नाटकों के अध्ययन की अध्यापकीय परंपरा के खतरों का उल्लेख करते हुए भाषा में निहित 'ड्रामेटिक डिक्शन', नाटकों के भावबोध और जीवन-दर्शन के महत्व की भी व्याख्या की है। दरअसल, प्रसाद के नाटकों को किस तरह पढ़ा जाता है, इस पर बहुत कुछ निर्भर है। रंगकर्मी शांता गांधी ने प्रसाद के इस नाटक को मंच पर प्रस्तुत किया था। अपने इस अनुभव के आधार पर उन्होंने "नटरंग" पत्रिका में एक लेख लिखा जिसमें 'स्कंदगुप्त' की प्रस्तुति के समय रंगकर्मी को किन बातों को ध्यान में रखना चाहिए, किस तरह के परिवर्तन नाटक में करने चाहिए, उसकी मंच सज्जा, पात्रों की वेशभूषा और संकलनत्रय संबंधी समस्याओं का समाधान किस तरह करना चाहिए, इस पर उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। इससे हम समझ सकते हैं कि 'स्कंदगुप्त' को किस तरह सफलतापूर्वक मंचित किया जा सकता है।

पाठ्यक्रम का तीसरा नाटक मोहन राकेश का 'आधे-अधूरे' है। राकेश के पहले दो नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के विपरीत 'आधे-अधूरे' में मध्यवर्गीय शहरी स्त्री-पुरुष के संबंधों की जाँच पड़ताल की गई है। इस पुस्तक में हमने प्रसिद्ध नाट्य आलोचक नेमिचंद्र जैन का लेख 'अधूरेपन की त्रासदी' शामिल किया है जिसमें उन्होंने इस नाटक की शक्ति और सीमाओं पर विचार किया है। नेमिचंद्र जैन का मानना है कि यह नाटक उनके पहले के दो नाटकों में व्यक्त लेखकीय अनुभव की ही आवृत्ति प्रतीत होता है। राकेश ने इसमें जो रंग-युक्तियाँ इस्तेमाल की हैं, उनको भी वे बहुत सार्थक नहीं मानते। 'आधे-अधूरे' पर ही एक अन्य लेख डॉ. जगदीश शर्मा का है। डॉ. शर्मा ने अपने इस लेख में मोहन राकेश के इस नाटक पर ही विचार नहीं किया है, बल्कि पहले के दोनों नाटकों से उसकी सविस्तार तुलना भी की है। यह तुलना साहित्यिक रचना और रंगमंच पर प्रस्तुति दोनों संदर्भों में की है। डॉ. जगदीश शर्मा का विवेचन वस्तुपरक और उन्होंने मोहन राकेश के नाटकों में निहित अंतर्विरोधों की गहरी

पड़ताल की है। फिर भी, उनके विचार में राकेश ने हिंदी नाटकों की साहित्यिकता को मंच चेतना प्रदान की है।

पाठ्यक्रम में संकलित चौथा नाटक धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अंधायुग' है। इस नाटक पर पुस्तक में दो लेख हैं। एक प्रख्यात कवि और चिंतक गजानन माधव मुक्तिबोध द्वारा लिखित टिप्पणी है और दूसरा लेख समीक्षक डॉ. निर्मला जैन का है। अपनी टिप्पणी में मुक्तिबोध ने 'अंधायुग' की वैचारिक सीमा उजागर करते हुए लिखा है कि भारती ने मौजूदा सभयता के ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कन्फ्यूज कर दिया है। डॉ. निर्मला जैन ने 'अंधायुग' के कथ्य के विश्लेषण द्वारा उसके अस्तित्ववादी वैचारिक परिप्रेक्ष्य, फंटेसी और चरित्रों की प्रतीकात्मकता के रूप में उसकी शक्ति ौर सीमाएँ तथा नाटक के रूप में उसकी संभावनाओं का गहन मूल्यांकन किया है।

नाटकों के बाद में हमने हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार भुवनेश्वर के 'ताबे के कीड़े' को पाठ् यक्रम में शामिल किया है। भुवनेश्वर का एकांकी नाटक एब्सर्ड नाट्य शैली में लिखा गया है, जिसे समझने में कठिनाई आती है। इकाई पढ़ने से आपको कुछ मदद मिली होगी। भुवनेश्वर के लेखन को समझने के लिए हमने इस संग्रह में दो लेख शामिल किए हैं। पहला लेख 'नयी कविता' के प्रमुख कवियों में से एक लक्ष्मीकांत वर्मा का है और दूसरा नयी कविता के ही एक अन्य कवि विपिन कुमार अग्रवाल का है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपनी टिप्पणी में भुवनेश्वर को इस ात का श्रेय दिया है कि जब यूरोपीय साहित्य में एब्सर्ड लेखन की शुरॅआत नहीं हुई थी, तब भुवनेश्वर एब्सर्ड नाटक लिखाने लगे थे। हिंदी समाज उनकी प्रतिभा को नहीं पहचान सका। विपिन कुमार अग्रवाल ने अपने लेख में भुवनेश्वर के नाटकों की भाषा और शिल्प का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि वे किन रूपों में दूसरे रचनाकारों से भिन्न और विशिष्ट हैं। इस लेख में श्री अग्रवाल ने असंगत नाटक के रचनात्मक महत्व पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने, विशेष रूप से 'तांबे के कीड़े' के उदाहरण द्वारा अपनी बात स्पष्ट की है। यह नाटक समझने में आपको कठिनाई अवश्य आएगी, लेकिन इकाई और इन दोनों लेखों को पढ़ने के बाद आपके लिए एकांकी नाटक को समझना आसान होगा।

इस पाठ्यक्रम में शमिल नुक्कड़ नाटक 'औरत' जन नाटय मंच, दिल्ली का रचित नाटक है। प्रसिद्ध रंगकर्मी सफदर हाशमी इस मंच से सक्रिय रूप से जुड़े थे औश्र इस नाटक को लिखने और खोलने में उनकी केंद्रीय भूमिका थी। इस पुस्तक में हम सफदर हाशमी द्वारा लिखा एक लेख दे रहे है जिसमें उन्होने नाटकों के लिए परंपरागत रूपों की उपयोगिता और प्रासंगिकता पर गहराई से विचार किया है। उनका मानना है कि कोई भी

नाटक किसी परंपरागत शैली में खेला जाता है तो उसकी सार्थकता तभी है जब वह कथ्य का इंटिग्रल हिस्सा होकर उभरे न कि उस पर थोपा हुआ लगे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंधों की रचना-शैली और व्यक्तित्व के प्रभाव आदि पक्षों पर विचार के लिए हमने डॉ. रामविलास शर्मा का निबंध चुना है। यह निबंध शुक्लजी पर उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' का एक अध्याय है। इस निबंध में रामविलासजी ने शुक्लजी के निबंधों विशेषतः मनोभावों संबंधी निबंधों में भावों की वस्तुपरक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या का विस्तृत विवेचन किया है। साथ ही, उन्हें शुक्लजी के जीवन, जगत और साहित्य संबंधी दृष्टिकोणों के साथ जोड़कर देखा है। इस निबंध में रामविलासजी ने शुक्लजी के निबंधों की शैली, भाषा और उनके व्यक्तित्व के प्रभाव का भी विवेचन किया है। इस लेख को पढ़ने से आपको 'लोभ और प्रीति' निबंध को भी समझने में मदद मिलेगी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध लेखन पर हमने दो लेख शामिल किए हैं। पहला लेख कृष्णबिहारी मिश्र का लिखा है, 'अशोक के फूल से देवदारु वन तक'। यद्यपि इस निबंध में 'कुटज' की चर्चा नहीं है, लेकिन उनके ललित निबंधों को समझने में यह मददगार होगा। कृष्णबिहारी मिश्र ने द्विवेदीजी के निबंधों के वैचारिक और भावपक्ष की चर्चा की है। साथ ही उन्होंने यह बताया है कि द्विवेदी जी अपने पांडित्य को लोकजीवन से संपृक्त करके उसे ऐसा रूप प्रदान करते हैं जिसमें न तो परंपरा की अवहेलना है और न नये से विराग। उनकी भाषिक क्षमता की भी मिश्रजी ने गहरी विवेचना की है। आप इस लेख के संदर्भ में 'कुटज' की विशेषताओं को भी समझ सकते हैं। दूसरे निबंध 'निबंधों में द्विवेदीजी का व्यक्तित्व' में त्रिलोचन पांडेय ने उनके व्यक्तित्व के प्रभाव की विवेचना की है, विशेष रूप से प्रकृति के प्रति उनके लगाव को निबंधों के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है। द्विवेदीजी के यहाँ प्रकृति प्रेम किस तरह जातीय परंपरा और संस्कृति को समझने का वाहक बना है, इसे भी हम उनके निबंधों में देख सकते हैं। लेखक ने द्विवेदीजी के साहित्य संबंधी विचारों का भी उल्लेख किया है जिससे उनके निबंध के साहित्यिक उद्देश्य को समझने में भी मदद मिलेगी।

पाठ्यक्रम में प्रसिद्ध व्यंगकार हरिशंकर परसाई का निबंध 'तीसरे दर्जे के श्रद्धेय' को शामिल किया गया है। परसाई जी के व्यंग्य की विशेषताओं को व्यक्त करने वाला एक लेख 'व्यंगकार : हरिशंकर परसाई' दे रहे हैं। इस निबंध में प्रख्यात कथाकार भीष्म साहनी ने परसाईजी के व्यंग्य के सामाजिक और वैचारिक आधारों का विवेचन किया है। भीष्म साहनी के अनुसार परसाईजी के व्यंग्य व्यक्ति केंद्रित नहीं है, न ही वे यह मानते हैं

सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि उसको बदला नहीं जा सकता। यही कारण है कि उनके व्यंग्य में विनोद की मात्रा समाहित रहती है।

छायावाद की कवयित्री महादेवी वर्मा श्रेष्ठ गद्यकार भी हैं। उनके लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों को पढ़ने के बाद ही हम समझ पाते हैं कि उनका संपूर्ण लेखन कितना महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है। एक गद्यकार के रूप में (जिनमें उनका आलोचक रूप भी शामिल है) महादेवीजी के लेखन का विवेचन गंगाप्रसाद पांडेय ने किया है। उन्होंने बताया है कि महादेवी साहित्य में न सिद्धांतों को महत्व देती है, न जीवन निरपेक्ष कलावादिता को। उनके लिए जीवन के यथार्थ से भिन्न साहित्य का कोई मतलब नहीं है। वे कलाकार से किसी वाद के प्रति निष्ठा की नहीं गहरी संवेदनशीलता की कामना करती हैं। यद्यपि महादेवी का लेखन गहरे अर्थों में मानवीय और प्रगतिशील है, लेकिन वे प्रगतिवाद की विचारधारात्मक संकीर्णता का विरोध करती है। दरअसल, महादेवी प्रगतिवाद को एक राजनीतिक आंदोलन के रूप में देखती है, जो सही नहीं है।

'बहुमुखी रचना-कर्म की परंपरा और अज्ञेय' लेख में श्री प्रयाग शुक्ल ने अज्ञेय की बहुमुखी प्रतिभा की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। अज्ञेय ने कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, यात्रा वृत्तांत, संस्मरण आदि विभिन्न विधाओं में समान महत्व का लेखन किया है। अपनी बात कहने के लिए उन्हें जो विधा सबसे उपयुक्त लगती थी, उसका वे इस्तेमाल करते थे। लेकिन किसी विधा में क्यों न लिखा हो, उनकी लेखन क्षमता का लोहा सभी को मानना पड़ता था। प्रयाग शुक्ल का विचार है कि अज्ञेय का रचनाकार किसी एक विधा या एक क्षेत्र से संतुष्ट होने वाला नहीं था। वह भारतेंदु, प्रसाद, निराला की परंपरा के लेखक थे जो एक साथ बहुत से क्षेत्रों में सक्रिय रहते थे।

प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' जो उनके छोटे पुत्र और कथाकार अमृत राय ने लिखी है, उसकी समीक्षा हिंदी कथाकार शिवप्रसाद सिंह ने लिखी थी। हमने इस पुस्तक में उस समीक्षा को संकलित किया है। प्रेमचंद अपने जीवन को 'सपाट' मानते थे और इस कथित सपाट जीवन को रोचक, प्रेरक और रचनात्मक जीवनी में ढालना आसान काम नही था। शिवप्रसाद सिंह के अनुसार, 'अमृतराय ने इस सपाट 'लैंडस्केप' की चुनौती स्वीकार की और उन्होंने प्रेमचंद के जीवन को अपनी पूरी योग्यता के साथ एक जीवंत 'डाकुमेंट' बना दिया, यह उनकी बड़ी सफलता है।'

राहुल सांकृत्यायन का लिखा यात्रा वृतांत 'किन्नर देश की ओर' पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राहुल जी को हिमालय से कितना गहरा प्रेम था। श्री गुणाकर मुले ने अपने

लेख 'राहुत का हिमालय-प्रेम' में विस्तार से बताया है कि राहुलजी ने कितनी बार, कब-कब और किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर हिमालय की यात्रा की। उनकी हिमालय पर लिखी विभिन्न पुस्तकों का क्या महत्व है, साथ ही, उनको अपनी ये पुस्तकें छपवाने में किस तरह की कठिनाइयाँ आई। राहुलजी का हिमालय से इतना गहरा लगाव था कि उन्होंने परिवार बसाने पर वहीं रहने का निश चय किया और उसी हिमालय की गोद में उनका देहावसान हुआ।

'सगेय राघव के रिपोर्ताज' शीर्षक आलेख का मूल शीर्षक 'नाटक और रिपोर्ताज' है। रागेय राघव पर लिखें गए साहित्य अकाइमी के मोनोग्राम से यह लिया गया है। इसके लेखक आलोचक मधुरेश है जिन्होंने रागेय राघव के नाटकों और रिपोर्ताज पर एक ही अध्याय में विचार किया है। इस पुस्तक में अध्याय के सिर्फ उसी अंश को लिया गया है जिसमें उन्होंने रांगेय राघव के रिपोर्ताजों का विवेचन किया है।

इस पुस्तक के अंत में हमने डॉ.अरबिंद त्रिपाठी की पुस्तक "श्रीकांत वर्मा" का एक अध्याय शामिल किया है, जिसे पढ़ने से आपको उनके लेखन की वैचारिक बुनावट को समझने में मदद मिलेगी। ऑक्टेवियो पॉज से लिए गए साक्षात्कार में आपको इस बात का अनुमान हो गया होगा कि श्रीकांत वर्मा की मूल चिताएं क्या थीं। यह निबंध उन चिताओं को समझने का वैचारिक आधार प्रदान करता है।

आप इन लेखों को विभिन्न खंडों में दी गई सामग्री के साथ पढ़ेंगे तो अधिक उपयोगी होगा।

जवरीमल्ल पारख

1. नाटक

हजारी प्रसाद द्विवेदी

हमने उपन्यास को समझने का प्रयत्न किया है। अब नाटक को समझने जा रहे हैं। यह क्रम कालक्रम की दृष्टि से उलटा है। पहले नाटक का आविर्भाव हुआ था और उसके बहुत बाद जाकर उपन्यास का हुआ। इस तरह कालक्रम के हिसाब से नाटक की विवेचना ही पहले करनी चाहिए थी, उपन्यास की बाद में। प्रायः ही आलोचक लोग इसी क्रम का पालन करते हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यास असल में नाटक की अपेक्षा शिथिल कथानक का साहित्य है। नाटक अधिक ठोस कथानक का साहित्य है। इसलिए उपन्यास का विश्लेषण सहज और अल्पायासग्राह्य होता है। दूसरे, नाटक उपन्यास की भाँति केवल पुस्तकगत साहित्य नहीं है। वह रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया होता है, अर्थात् केवल पुस्तक में लिखी हुई बातें ही संपूर्ण नाटक नहीं है, वे अपने आपकी पूर्णता के लिए रंगमंच की अपेक्षा रखती है। उपन्यास में यह बात नहीं होती, वह अपना रंगमंच अपने पात्रों में लिए फिरता है। तीसरे, उपन्यास लेखक जानता है कि उसका पाठक अपनी सुविधा और अवसर के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ सकता है। इसलिए वह किसी संकीर्णता में बंधा नहीं रहता, जबकि नाटक का लिखने वाला लेखक अच्छी तरह जानता है कि उसका नाटक दो या तीन घंटे के भीतर द्रष्टा को देख लेना है। और इसीलिए आकार और विस्तार के मामले में संकीर्ण सीमा में बंधा रहता है। उसकी यह मनोवृत्ति नाटक को जहाँ अधिक ठोस बना देती है वहाँ अनेक कौशल ग्रहण करने को बाध्य कर देती है। इसीलिए नाटक उपन्यास की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। एक चौथा कारण यह है कि उपन्यासकार को अपने पात्रों के भीतरी मनोभावों को खोलकर बता देने की स्वाधीनता प्राप्त रहती है, जो नाटककार को नहीं रहती। इसलिए नाटक-लेखक जहाँ अपने उपस्थापन में संक्षिप्त और ठोस होता है वहाँ अनेक बंधनों से जकड़ा भी रहता है। इस पराधीनता के कारण उसे अनेक कौशल अवलंबन करने पड़ते हैं। इन भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न कौशलों के अवलंबन के कारण उपन्यास की अपेक्षा नाटक अधिक ठोस होता है। इसलिए यह मामूली कायदा सा हो गया है कि पहले उपन्यास की विवेचना कर लेने के बाद ही नाटक की विवेचना की जाए।

जिन पंडितों ने पुराने शास्त्रों का अध्ययन किया है उनका अनुमान है कि बहुत पहले भारतवर्ष में जो नाटक खेले जाते थे उनमें बातचीत नहीं हुआ करती थी। वे केवल नाना अभिनयों के रूप में अभिनीत होते थे। अब भी संस्कृत के पुराने-नाटकों में इस प्रथा का भग्नावशेष प्राप्य है। इन नाटकों में जब कोई पात्र कुछ करने को होता है तो उसका निर्देश इस प्रकार दिया जाता है - 'अमुक पात्र अमुक कार्य का अभिनय कर रहा है' (शकुंतला वृक्षसेचन नाटयति')। यह इस बात का सबूत देता है कि नाटकों में बातचीत उतनी महत्वपूर्ण वस्तु नहीं मानी जाती थी जितनी क्रिया। डिडेराट नामक पश्चिमी पंडित के बारे में प्रसिद्ध है कि उसकी यह अद्‌भुत आदत थी कि नाटक देखते समय कान बंद कर लिया करता था। ऐसा करने से वह नाटकीय क्रिया को बातचीत से अलग करके देख सकता था और नाटक की उत्कृष्टता को ठीक-ठीक समझ सकता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटक में क्रिया ही प्रधान होती है। इसका मतलब यह हुआ कि नाटक की पोथी में जो कुछ छपा होता है उसकी अपेक्षा वही बात ज्यादा महत्वपूर्ण होती है जो छपी नहीं होती और सिर्फ रंगभूमि में देखी जा सकती है : नाटक का सबसे प्रधान अंग उसका क्रिया-प्रधान दृश्यांग ही होता है, और इसीलिए पुराने शास्त्रकार नाटक को दृश्यकाव्य कह गए हैं।

उपन्यास में जितने तत्व होते हैं वे सभी नाटक में भी होते हैं। इन तत्वों के सम्मिलित जोर से ही नाटक क्रियापरायण होता है। इसलिए उसमें भी कथावस्तु उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना उपन्यास में, परंतु, जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, नाटककार हर मामले में बहुत से बंधनों से बंधा रहता है। इसीलिए वह बड़ी सावधानी से उन कम से कम घटनाओं का सन्निवेश करता है जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता। यदि वह ऐसे बेकार दृश्यों की अवधारणा करे, जो नाटक में कोई उद्देश्य ही नहीं सिद्ध करते, तो उसका नाटक शिथिल हो जाएगा। शैथिल्य नाटक का बड़ा भारी दोष है। परंतु हर बात में नाटककार को स्टेज की सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार ने स्टेज में ऐसी अनेक सुविधाएँ ला दी हैं, जिनके कारण आज के नाटककार का प्राचीन नाटक की अपेक्षा कम घटनाओं के सन्निवेश से भी काम चल जाता है। कालिदास और भवभूति के नाटकों में ऐसे बहुत से दृश्य अवतरित किए गए हैं, जिन्हें आज का नाटककार छोड़ देता और स्टेज में ऐसा-निर्देश दे देता, जिससे वे बातें बिना कहे ही सहृदय श्रोता की समझ में आ जाती। इब्सन आदि आधुनिक नाटककार इस प्रकार के घटनाबहुल दृश्यों की अवतारणा न करके एक खास बात पर घटनाओं को इस प्रकार केंद्रित करते हैं कि उनका उद्देश्य प्रतिफलित हो जाता है। इसलिए नाटकीय कथाबस्तु औपन्यासिक कथावस्तु से ज्यादा कठिन होती है।

इस (नाटक के) कथावस्तु के दो अंग होते हैं, दृश्यांश और सूच्यांश। अर्थात् एक तो वह वस्तु जो नाटक की क्रिया को अग्रसर करती है और सहृदय को रसानुभूति के अनुकूल करती है। नाटककार को यह समझना चाहिए कि कथावस्तु में कौन-सा दृश्यांश होगा और कौन-सा सूच्यांश। हिंदी के एक नामी नाटककार ने राम के बन जाते समय नागरिकों का रोकना, वशिष्ठ का व्याख्यान देना आदि बातें बड़े आडंबर के साथ दृश्य रूप में अंकित की है, जब कि कैकेयी का वर मांगना और राजा का शोकाकुल होना केवल नागरिकों की बातचीत के रूप में सूचित भर कर दिया है। स्पष्ट ही वे कथा के उस मार्मिक अंश को तरह दे गए हैं, जो सहृदय के रसबोध को जागृत करता और अभिनेता के अभिनय कौशल की कसौटी होता। अगर कालिदास ने दो नागरिकों में बातचीत कराके यह सूचना दे दी होती कि शकुंतला को राजा दुष्यंत ने अस्वीकार कर दिया, तो उनका 'अभिज्ञानशाकुंतल' अत्यंत दरिद्र हो जाता। इसलिए नाटक की कथावस्तु का विचार करते समय देखना चाहिए कि नाटकाकार जिन बातों को रंगमंच पर अभिनीत होते दिखाना चाहता है वे मार्मिक अंश है या नहीं, और पूर्ववर्ती या परवर्ती घटनाओं की अनुभूति को गाढ़ा करने में कोई सहायता पहुंचा रहे हैं या नहीं।

पुराने ज़माने के नाटकों में केवल सूचना देने के लिए पाँच प्रकार के कौशल का निर्देश है। इन्हें अर्थोपस्थापक कहा गया है। प्रधान दो है : प्रवेशक और विष्कंभक। विष्कंभक या विष्कंभ सिर्फ दो पात्रों में (जो कभी भी उत्तम श्रेणी के नहीं होते) बातचीत के द्वारा भावी या अतीत अर्थ की सूचना देने के लिए अंक के आरंभ में जोड़ा जाता है। जब इसके पात्र मध्यम श्रेणी के होते थे और शुद्ध (संस्कृत) भाषा में बात करते थे तो इसे शुद्ध विष्कंभक कहा जाता था। और जब उनमें से एक निम्न श्रेणी का होता था और लौकिक (प्राकृत) भाषा बोलता था तो उसे 'मिश्र विष्कंभक' कहा जाता था। विष्कंभक नाटक के आरंभ में भी आ सकता था। प्रवेशक ठीक इसी तरह की चीज है। अंतर केवल यह है कि इसके पात्र निम्न श्रेणी के होते थे, प्राकृत में बात करते थे और नाटक के प्रारंभ में इसका प्रयोग नहीं होता था।

पर्दे के भीतर से किसी आवश्यक बात की सूचना देने को चूलिका या खंडचूलिका कहते थे। किसी अंक के अंत में आगामी अंक के विषय में दी गई सूचना को अंकमुख और एक अंक की क्रिया लगातार दूसरे अंक तक चलती रहे तो उसे अंकावतार कहा जाता था। इन कौशलों से ऐसी बातों की सूचना दी जाती थी, जो रंगमंच पर अभिनीत होने के योग्य नहीं समझी जाती थी।

उपन्यास की भांति नाटक में भी एकाधिक कथावस्तुएँ रह सकती हैं। एक घटना प्रधान होती है, बाकी अप्रधान। प्रधान को पुराने आचार्य आधिकारिक और अप्रधान को प्रासंगिक कह गए हैं। 'रामायण' में राम की कथा आधिकारिक है और सुग्रीव की प्रासंगिक।

प्रासंगिक कथाएँ दो प्रकार की होती हैं : (1) वे, जो आधिकारिक कथा के साथ बराबर चलती रहे और (2) वे जो थोड़ी दूर तक ही चलें। पहली को पताका स्थान और दूसरी को प्रकरी कहते हैं। नाटक में यदि दो कथावस्तुओं का इस प्रकार सन्निवेश हो कि दोनों ही प्रधान-सी लगें या परस्पर एक दूसरे से असंबद्ध जान पड़ें, तो वहाँ नाटककार सफल नहीं कहा जा सकता। इस बात को 'अजातशत्रु' नामक प्रसाद जी के नाटक से समझा जा सकता है। 'अजातशत्रु' की कथा में तीन घटनाएँ एक दूसरे से गूंथी गई हैं : (1) मगध के राजघराने की कलह, जिसके कारण वृद्ध राजा बिंबसार और रानी वासवी राजच्युत हुए हैं। (2) कौशल के राजा प्रसेनजित और उनके पुत्र तथा रानी का पारस्परिक मनोमालिन्य और (3) कोशांबी के राजा उदयन और उनकी रानी मागंधी तथा पद्मावती का विवाद। मागंधी ही अंत में चलकर श्यामा वेश्या बन जाती है और वही आगे जाकर आम्रपाली। यह तीसरी घटना बहुत सार्थक नहीं है। मागंधी का श्यामा के रूप में घर छोड़कर बाजार में जा बैठना थोड़ा-सा नाटकीय उद्देश्य सिद्ध जरूर करता है, पर वह नाटक का अत्यंत आवश्यक अंग नहीं है। अब इन घटनाओं पर विचार किया जाए।

वस्तुतः प्रथमोक्त दो राजघरानों के घरेलू कलह से ही नाटक की घटना बनी हुई है। वे दोनों घटनाएँ समानांतर सी है, यद्यपि दोनों का नियोग दो तरह से हुआ है। दोनों में ही पिता-पुत्र का झगड़ा है। दोनों में ही विद्रोही पुत्रों की माताएँ उन्हें उत्तेजित करने में प्रमुख भाग लेती हैं। परंतु मगध का बूढ़ा सम्राट बिंबसार नकारात्मक चरित्र का पात्र है, जबकि कौशल का प्रसेनजित घटनात्मक। इसका नतीजा यह होता है कि पहला सिहांसन त्याग कर बंदी हो जाता है और उसका विद्रोही पुत्र सम्राट बन बैठता है जबकि दूसरा (प्रसेनजित) गद्दी पर जमा रहता है और पुत्र को देश निकाले की सजा देता है।

ये दोनों कथानक बहुत कुछ निरपेक्ष से हैं। कौशल वाली कहानी मगध वाली कहानी की अपेक्षा गौण केवल इस अर्थ में है कि मगध का गृह विवाद पहले होता है और उसका समाचार पाने पर ही कौशल वाला गृहविवाद आरंभ हो जाता है, यद्यपि आगे की घटनाओं से हम जानते हैं कि इस गृह विवाद के पीछे बहुत पुराना झगड़ा है। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें कौन सी घटना आधिकारिक है और कौन-सी प्रासंगिक। नाटक के नाम से जान पड़ता है कि मगधवाली कथा को ही नाटककार प्रधान मानता है। इस कथा को अग्रसर करने में कौशल वाली घटना से थोड़ी सहायता मिली ज़रूर है, पर वहाँ भी यह निर्णय करना कठिन है कि अजात को शैलेंद्र से अधिक सहायता मिली है या शैलेंद्र को अजात से। केवल एक चरित्र - मल्लिका से - जो कौशल वाली घटना का परिणाम है, दोनों घटनाओं का घनिष्ठ संबंध है और इस एक ही सूत्र की सहायिका होने के कारण कौशल वाली घटना में प्रासंगिकता आ गई है। उदयन वाली तीसरी कथा की एकमात्र देन श्यामा है जो घटनाविकास में महत्वपूर्ण भाग लेती है, पर अगर वह पहले

मागधी के रूप में रानी न रही होती और सिर्फ काशी की वेश्या होती तो नाटक की कोई हानि नहीं होती। उसके रानीत्व की सूचना बाद में केवल विदूषक की बातचीत में आती है - खुद वह विदूषक भी इस दृश्य में केवल इसलिए खड़ा कर दिया गया है कि नाटककार ने आम्रपाली की जो कहानी नाटक में लिख दी है उसको कुछ सार्थक बना दिया जाए। किंतु यह भी बेकार ही है। यदि आम्रपाली के मागधी रूप का कथन नितांत आवश्यक भी होते तो कई दृश्यों की अवतरणिका न करके उसे सूक्ष्म रूप में उपस्थित किया जा सकता था।

कुछ लोगों ने यह भ्रम फैला दिया है कि नाटक में चरित्र-चित्रण गौण वस्तु है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण और घटना विन्यास दोनों सम्मिलित भाव से उस महान् गुण को उत्पन्न करते हैं जिसे क्रिया कहते हैं। उत्तम चरित्र-चित्रण नाटककार की कृति को महान् बनाता है। सिर्फ घटनाएँ ही यदि बाहर से आ आकर पात्रों को विशेष दिशा में अग्रसर करती रहे तो पात्र निर्जीव जड़पिंड के समान मालूम होंगे और नाटकीय प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकेगा। शंकुतला का आश्रम में आत्म-समर्पण और बाद में अपने प्रेमी के द्वारा प्रत्याख्यात होकर रोषदीप्त होना महज अपने आप में स्वतंत्र बाहरी घटनाएँ नहीं है, बल्कि शंकुतला के सरल और निष्कपट चरित्र के भीतर से उत्पन्न हुई है : 'उत्तर-रामचरित' में राम द्वारा सीता का निर्वासन राम के भीतरी चरित्र की तर्कसंगत परिणति है।

यह ज़रूर है कि नाटककार उपन्यासकार की भाँति अपने पात्रों के चरित्र विश्लेषण का सुयोग नहीं पाता। उसे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण थोड़े से इशारों से कर देना पड़ता है। उसका प्रधान अवलंब उस पात्र की बातचीत और अन्य पात्रों की, उसके संबंध में की हुई, उक्तियाँ होती है। परंतु जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, नाटक में यह बात उतनी महत्वपूर्ण नहीं है कि पात्र क्या कहता है, महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या करता है। घटना और पात्र एक-दूसरे से धक्का खाकर आगे बढ़ते रहते हैं और इस घात-प्रतिघात से उत्पन्न क्रियाओं के द्वारा हम पात्रों के चरित्र-रूपी ग्रंथ के पन्ने खोलते जाते हैं। नाटककार का बड़ा कठिन कार्य यह है कि यह प्रति मुहूर्त भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में नया नया मनोभाव स्वीकार करता रहता है और इसलिए उसका व्यक्तिगत मत और विचार बराबर दबते रहते हैं। इसी बात को नाटक का निर्वैयक्तिक तत्व कहते हैं।

कथावस्तु और पात्रों के घात-प्रतिघात से नाटक महान् बनता है। नाटककार यदि पात्रों और घटनाओं को होशियारी से संभाल सका और घटनाविन्यास की सुकुमार अवस्थाओं को पहचान सका, तो अत्यंत मामूली कहानी को भी महिमा मंडित कर दे सकता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुंतल' है, जिसे संक्षेप में शकुंतला नाटक कहा जाता है। महाभारत की सीधी-सादी कहानी को संभालने में नाटककार ने कमाल की सुकुमार प्रतिभा का परिचय दिया है।

महाभारत की कहानी सीधी है। राजा दुष्यंत कण्व के आश्रम में जाता है। शकुंतला को देखकर आकृष्ट होता है। वह निस्संकोच अपना अप्सरा से जन्म होना बता जाती है। दोनों में कुछ बहस होने के बाद उसे यकीन हो जाता है कि गांधर्व विवाह धर्मसंगत है। गांधर्व विवाह हो जाता है, परंतु उसमें शकुंतला शर्त करा लेती है कि उसी का पुत्र राजा होगा। राजा राजधानी को लौट आता है। शकुंतला के पुत्र होता है। उसे ऋषि के शिष्य दरबार तक पहुँचाकर चले आते हैं। राजा अस्वीकार करता है। शकुतंला कड़ी कड़ी बातें सुनाती है। फिर आकाशवाणी होती है कि शकुंतला का पुत्र वस्तुतः दुष्यंत का पुत्र है और राजा उसे स्वीकार करता है तथा बताता है कि चालाकी से देववाणी द्वारा यह कहलवा लेना उसका उद्देश्य था कि भरत वस्तुतः दुष्यंत का ही पुत्र है।

यही वह सीधी-सादी कहानी है जिसे कालिदास ने अपने नाटक के मूल कथानक के रूप में पाया था। इस अत्यंत सरल कहानी को कालिदास की जादूभरी लेखनी ने एकदम नई काया दे दी है। यहाँ लज्जाशीला तापसकुमारी अपना जन्म वृत्तांत स्वयं नहीं कहती। उसकी सखियाँ केवल उस ओर इशारा भर कर देती है। बाकी बुद्धिमान राजा को स्वयं समझ लेने को छोड़ देती है। उसके प्रेमोदय और गांधर्व-विवाह तूली के अत्यंत सुकुमार स्पर्श से चित्रित किए गए हैं। राजा के अनुचित आचरण को शाप की कथा से ढक दिया गया है, और इस आचरण की थोड़ी सी जिम्मेदारी शकुंतला पर भी डालकर कवि ने करुणतर अनुभूति का अवसर दिया है।

शकुंतला जब दरबार में पतिदर्शन की आशा से उपस्थित होती है तो शाप की घटना एक विचित्र नाटकीय 'भाग्यविडंबन' का काम करती है। राजा के मर्मांतक प्रत्याख्यान को इस शाप की कथा ने ऐसा बना दिया है कि सहृदय का क्षोभ एक विचित्र करुण रस से भीगकर ऊपर आने के अयोग्य हो जाता है। राजा पर झुंझलाने के बदले वह उस पर दया करता है। शकुंतला को शाप के वृत्तांतों से अनभिज्ञ रखकर नाटककार ने इस प्रसंग को अद्भुत मानसिक द्वंद्वों का करुण चित्र बना दिया है। शकुंतला का रोष, राजा का प्रत्याख्यान, ऋषि-शिष्यों का शकुंतला को छोड़ जाना – सब-कुछ विचित्र रसपरिपाक के कारण बन जाते हैं।

महाभारत की शकुंतला की भाँति कालिदास की शकुंतला राजा को शाप की धमकी नहीं देती। उसकी बातें राजवधू और ऋषि कन्या के गौरव के अनुकूल है। दुष्यंत उत्तम नायक है, क्योंकि वह राजकर्तव्यों का समुचित पालन करने वाला है। उसका निःस्वार्थ कर्तव्यमय जीवन राजर्षि की तपस्या का जीवन है। शकुंतला का परित्याग उसके उज्ज्वल चरित्र को उज्ज्वलतर बनाने योग्य ही सिद्ध हुआ है; क्योंकि अनजाने में पराई स्त्री को पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेना भी पाप है, और असल में वह इस पाप से बचने की ही कोशिश कर रहा था। शकुंतला का उसके प्रति जो प्रेम है वह दुख की अग्नि से परिशुद्ध है। अंतिम

मिलन प्रेमद्रविता बालिका का नहीं, बल्कि तपःशुद्धा, मातृत्व के गौरव से गौरवान्वित, विगतकल्मषा, साध्वी शकुंतला का है।

विरोधी परिस्थितियों और व्यक्तित्वों की सृष्टि करके अपने पात्रों के चरित्रगुण को उज्ज्वल करने में भी कवि ने कमाल की होशियारी से काम लिया है। लेकिन शकुंतला की तुलना में किसी भी स्त्री पात्र को रंगमंच पर दर्शक के सामने नहीं आने दिया है। विदूषक सदा राजा के साथ रहता है, परंतु अगर वह शकुंतला के प्रेम का साक्षी होता तो सारे नाटक का रस फीका हो जाता। ठीक मौके पर नाटककार ने उसे कौशलपूर्वक हटा दिया है।

कण्व का बड़ा आकर्षक चित्र है। वे संतानहीन ऋषि हैं, पर संतान के अहेतुक प्रेम से उनका हृदय भरा है। मरीच और दुर्वासा इन दो और ऋषियों को तुलना में खड़ा करके कवि ने उनके हृदय की गंभीरता, उदारता और प्रेमप्रवणता को अति उज्ज्वल कर दिया है। इसी प्रकार चरित्रों के चित्रण में और घटनाओं के गतिविकास में उनका संयोजन करके 'शकुंतला' को कालिदास ने विश्वसाहित्य की अमर विभूति बना दिया है। चरित्र-चित्रण इतना सूक्ष्म और कौशलपूर्ण है कि थोड़े समय में दिख जाने वाले अत्यंत गौण चरित्र भी स्पष्ट हो उठे हैं। शार्गंधर और शारद्वत बहुत थोड़े समय के लिए रंगमंच पर आते हैं, बातें भी कम ही करते हैं, पर उतने में ही स्पष्ट हो गया है कि शार्गंधर उद्धत और गर्वीला है, राजा को खरी-खरी सुना देता है और शारद्वत गंभीर है, और कन्या पक्ष के आदमी को जिस प्रकार बात करनी चाहिए वैसी बात करता है।

मतलब यह कि पात्रों के चरित्र और घटनाएँ एक-दूसरे से टकराकर जब नाटक को गतिशील बनाए रखें तभी वे सफल होती है। यह बात उपन्यास के लिए भी सत्य है। कोई भी रचना तभी सफल हो सकती है, जब हम यह अनुभव करते हैं कि कुछ भिन्न-भिन्न स्वभाव के व्यक्ति विभिन्न उद्देश्यों को लेकर एकत्र हुए, और उनके स्वभावगत और उद्देश्यगत विरोधों के संघर्ष से कुछ परिस्थितियों में घटनाएं अग्रसर होती गईं। इसलिए पात्रों का स्वभाव और उनका उद्देश्य नाटकीय कथावस्तु के लिए परम आवश्यक है। उनकी उपेक्षा दोष है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, पात्रों के चरित्र-चित्रण का एक प्रधान अवलंब उनकी बातचीत है। बातचीत से हम उनके भीतरी मनोभावों का आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओं के पीछे रहने वाले उनके विचार समझ पाते हैं। इसीलिए भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पात्रों की बातचीत को नाट्य का शरीर बताया गया है। उपन्यास में बातचीत के द्वारा लेखक अपने उद्देश्यों को व्यक्त कर सकता है, अपने मान्य सिद्धांतों के गुण-दोष की विवेचना कर सकता है, अन्य पात्रों के चरित्र की व्याख्या कर सकता है, पर

नाटककार को इतना अवकाश नहीं होता। नाटककार जो बातचीत करता है उसका उद्देश्य चरित्र के भीतरी मनोभावों और वास्तविक स्वभाव को व्यक्त करके उसके चरित्रगत वैशिष्ट्य को दिखाना होता है। नाटकीय वार्तालाप कां औचित्य विचार करते समय यह देखना चाहिए कि इससे पात्र की चरित्रगत विशेषता पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी से उसकी सार्थकता का निर्णय होना चाहिए।

ऐसा संभव है कि पात्र एक ऐसी बात प्रकाश्य रूप में कहे जो उसका भीतरी मनोभाव न हो, किसी कारणवश वह झूठ बोल रहा हो। ऐसी हालत में नाटककार एक 'कौशल' का अवलंबन करता है। वह या तो पात्र से कोई स्वगत उक्ति कराता है। अर्थात् पात्र अपने आपसे ही बातचीत करके असली रहस्य खोल देता है, या फिर, यदि पात्र का कोई विश्वसनीय साथी वहाँ मौजूद हो, तो उससे जनांतिक में बात करा देता है। यह जनांतिक वाली बात सिर्फ उसका विश्वासपात्र व्यक्ति ही सुनता है।

ये दोनों बाते अजीब सी लगती हैं। रंगमंच से बहुत दूर बैठा हुआ श्रोता जनांतिक की बातें सुन लेता है, पर पास खड़ा आदमी नहीं सुन पाता, ऐसा मान लिया जाता है। स्वगत उक्ति में तो कभी-कभी लंबा व्याख्यान होता है। नाटक के रंगमंच के सिवा दुनिया में और कहीं भी दुरुस्त होश वाला आदमी इस प्रकार अपने आपको व्याख्यान नहीं सुनाता। आलोचकों में इस प्रथा के औचित्य को लेकर काफी बहसें हुई है पर ये दोनों सारे संसार के नाटककारों की चिरचरित प्रथाएँ हैं।

वस्तुतः स्वगत उक्ति पात्र का मानसिक सोच और वितर्क है। नाटककार अपने श्रोताओं की सुविधा के लिए उन वितर्कों को जोर से बोलवाता है। ज़माने से श्रोता भी उसके साथ इस प्रकार की रियायत करता आया है। भारतीय नाटकों में इससे मिलती-जुलती एक और भी विधि है। इसे आकाशभाषित कहते हैं। इसमें पात्र इस प्रकार बातचीत करता है मानो दुतल्ले पर से कोई उससे कुछ पूछ रहा है और वह उसका जवाब दे रहा है। प्रति बार वह श्रोताओं के सुभीते के लिए स्वयं ही पूछ लेता है : क्या कहा? अमुक बात और फिर अमुक बात का जवाब देता है।

आजकल की यथार्थवादी प्रवृत्ति इस प्रकार की रूढ़ियों को भद्दी रूढ़ि के रूप में ही ग्रहण करने लगी है। आधुनिक नाटककार इस प्रथा को छोड़ने लगे हैं और साधारण बातचीत के भीतर से ही पात्र के भीतरी मनोभावों को चित्रित करने का प्रयत्न करने लगे हैं। यह कठिन कार्य और भी कठिन इसलिए हो गया है कि आजकल के नाटक अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं, फिर भी, आधुनिक नाटककार ने सफलतापूर्वक इन रूढ़ियों का परित्याग किया है।

रंगमंच की सुविधा-असुविधा के अनुसार नाटक की कारीगरी में बराबर परिवर्तन होता आया है। आजकल 'रंगमंच' को वास्तविक और यथार्थ रखने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। ऐसा करने से सब समय दर्शक के साथ न्याय नहीं किया जाता। दर्शक की कल्पना को भी पूरा अवकाश मिलना चाहिए। रंगमंच के दृश्य की ओर इशारा भर हो और बाकी दर्शक की कल्पना के ऊपर छोड़ दिया जाए तो ज्यादा सरसता आ सकती है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रंगमंच को अति यथार्थवादी बनाने की प्रवृत्ति को लड़कपन कहा था। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय रंगमंच आधुनिक-रंगमंच की अपेक्षा अधिक सरस और गंभीर कहे जा सकते हैं, यद्यपि वे इतने सुसज्जित नहीं होते थे।

भारतीय आचार्यों ने अभिनय के चार अंग माने हैं : आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय देह और मुख संबंधी अभिनय को कहते हैं। प्राचीन ग्रंथों में सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर आदि अंगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। इन अभिनयों का किस किस कार्य में प्रयोग होगा, यह भी विस्तृत रूप से बताया गया है। वाचिक वचन-संबंधी अभिनय को कहते हैं। पदों के स्पष्ट उच्चारण, उचित स्थान पर जोर (काकु) आदि की कला इसी में गिनी जाती है। आहार्य रंगमंच की सजावट और पात्रों के वेश-विन्यास को कहते हैं। रंगमंच में यथार्थता की झलक ले आ देने के लिए उन दिनों तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बांस या सरकंडे के बने होते थे जिन पर कपड़ा या चमड़ा मढ़ दिया जाता था, ताकि पहाड़ वन आदि की झलक दे सकें, या फिर यंत्रादि की सहायता से फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता इस प्रकार की चेष्टाओं का अभिनय करता था कि जिससे दर्शक को उन वस्तुओं का बोध अपने आप हो जाता था। पुरुषों और स्त्रियों की उपयुक्त वेशरचना और उनका यथाविधि रंगमंच पर उतरना भी आहार्य अभिनय के ही अंग समझे जाते थे। परंतु इन तीनों ही की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है सात्विक अभिनय। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में ही अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती है।

इस प्रकार रंगमंच की सजावट, पात्रों का वेशविन्यास, उनकी बातचीत, उनकी आंगिक गति और उनका भावात्मक अभिनय भी भारतीय शास्त्रकार की दृष्टि में अभिनय ही है। अभिनय शब्द का अर्थ वह क्रिया है जो दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाए। रंगमंच की सजावट, पात्रों की बातचीत, उनका वेशविन्यास आदि सभी बातें रसानुभूति की सहायिका हैं। परंतु यदि ये ही प्रधान हो उठें और रसानुभूति गौण हो जाए तो ये दोष हो जाएंगी। रंगमंच के अत्यधिक यथार्थवादी बनाने के प्रयासी इस बात को भूल जाते हैं।

प्रत्येक नाटकीय कथा कुछ विरोधों को लेकर अग्रसर होती है। जो कथा सरल होती है उसमें यह विरोध दो व्यक्तियों में होता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि विरोध के लिए हर हालत में एक नायक और एक प्रतिनायक रहे ही। आधुनिक नाटकों में यह विरोध नाना

भाव से प्रदर्शित हुआ है। नायक का उसके भाग्य या परिस्थितियों के साथ विरोध हो सकता है, सामाजिक रूढ़ियों के साथ विरोध हो सकता है, और फिर अपने मत के परस्पर-विरोधी आदर्शों के संघर्ष के रूप में भी हो सकता है। विरोध व्यक्तियों, मनोभावों और स्वार्थों को केंद्र करके नाना रूप में प्रकट हो सकता है। इस विरोध से ही नाटक की घटना में गति या क्रिया आती है। विरोध के आरंभ से ही वस्तुतः कथावस्तु का आरंभ होता है और उसके अंत से ही उसका अंत हो जाता है। विरोध कथावस्तु को आश्रय करके अग्रसर होता हुआ चरम बिंदु तक उठता है, जहाँ से एक पक्ष की हार शुरू होती है और एक पक्ष की जीत, और अंत में जब हारने वाला पक्ष एकदम हार जाता है तो विरोध की समाप्ति हो जाती है।

इन क्रियाओं को पश्चिम के पंडितों ने पाँच भागों में बाँट लिया है : (1) पहली आरंभावस्था है, जिसमें कुछ ऐसी घटनाओं की अवतारणा होती है जिनमें विरोध अंकुरित होता है। (2) दूसरी विकासावस्था है, जहाँ विरोध का विकास होता है, वह अग्रसर होता जाता है। (3) तीसरी अवस्था का नाम चरमबिंदु है। यहाँ विरोध अपनी सर्वोच्च सीमा पर आ जाता है। (4) चौथी अवस्था ह्रासावस्था कहलाती है, इसमें विरोध उतार की ओर होता है और एक पक्ष निश्चित रूप से हार की ओर अग्रसर होता रहता है। (5) पाँचवी अवस्था का नाम समाप्ति है।

इन पाँच अवस्थाओं - आरंभ, विकास, चरमबिंदु, ह्रासावस्था, समाप्ति को लक्ष्य में रखकर पाँच अंक के नाटक लिखे जाते थे। पर नाना कारणों से अंकों का विभाजन क्वचित कदाचित ही इन पाँच अवस्थाओं के स्वाभाविक विकास के आधार पर होता है। कभी दो अंकों तक आरंभ चल रहा है, दो अंकों तक विकास चलता है। फिर धड़ाधड़ अंतिम अंक में चरमबिंदु, ह्रास और समाप्ति की योजना कर दी जाती है। यह दोष है। होना यह चाहिए कि कथावस्तु की इन पाँचों अवस्थाओं के विकास में सामंजस्य हो। सभी नाटक पाँच अंक के नहीं होते, कुछ दस अंक के भी होते हैं, कुछ चार अंक के और कुछ तो एक ही अंक के। परंतु ये पाँच तत्व-सब में वर्तमान रहते हैं। ऐसी हालत में यह तो कहना ही व्यर्थ है कि प्रत्येक अवस्था को एक-एक अंक में समाप्त कर देना संभव नहीं है, क्योंकि सभी नाटक पाँच अंक के होते भी नहीं। फिर भी यह आवश्यक है कि नाटककार इन पाँच अवस्थाओं में सामंजस्य रखे।

आलोचकों ने त्रिभुजाकार कथावस्तु की कल्पना करके यह व्यवस्था दी है कि उत्तम वस्तु वह है जहाँ समत्रिबाहु त्रिभुज की आकृति हो – अर्थात् प्रत्येक अवस्था के बीच समान समान काल लगाना उत्तम है। वस्तुतः प्रत्येक कथा के लिए एक ही प्रकार की सलाह नहीं दी जा सकती, परंतु उनकी यथासंभव समव्यवधानता होनी चाहिए।

इन पाँच अवस्थाओं के साथ पुराने भारतीय आचार्यों की बनाई हुई पाँच अवस्थाओं की तुलना की गई है। ये पाँच अवस्थाएँ हैं : आरंभ, प्रयत्न, प्राप्याशा, नियताप्ति और फलागम। इस विभाग में यह मान लिया गया है कि नाटक की समस्त क्रियाओं का कोई फल होता है। आरंभ नामक अवस्था में वह फल अंकुरित होता है। प्रयत्न में नायक उसे पाने का प्रयत्न करता है, प्रात्याशा में उस फल के पाने की आशा होती है। फिर मार्ग में आए हुए विघ्नों का उच्छेद होता है और फल प्राप्त करना निश्चित हो जाता है। इस अवस्था का नाम नियताप्ति है। अंत में फलागम होता है अर्थात नायक को अभिलषित फल मिल जाता है।

सुप्रसिद्ध विद्वान बाबू श्यामसुंदर दास ने इन दोनों विभागों में जो दृष्टिकोण लक्षित हो रहे हैं उनका अंतर इस प्रकार समझाया है : विरोध और झगड़े आजकल की सभ्यता के परिणाम है। कम से कम इनका विकास और वृद्धि आजकल की सभ्यता में हुई हैं। प्राचीन भारत में भी विरोध और झगड़े थे, पर वे इतने अधिक और प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओं में उनके अभिनय की आवश्यकता होती। हमारे यहाँ के प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, अर्थ और काम के उद्देश्य से रचे और खेले जाते थे।

हमने ऊपर कहा है कि पश्चिमी पंडितों ने जिसे विरोध कहा है वह दो व्यक्तियों या दलों के विरोध तक ही सीमित नहीं है, वह सत और असत के विरोध तक भी मर्यादित नहीं है, वह नायक के भीतरी मनोभावों, सामाजिक रूढ़ियों या परिस्थितियों के साथ भी हो सकता है। नाटक मे विरोध इसलिए नहीं होता कि विरोध को आजकल रंगभूमि में दिखाने की कोई आवश्यकता आ पड़ी है, बल्कि इसलिए होता है कि किसी न किसी विरोध के भीतर से ही नाटक की क्रिया अग्रसर हो सकती है। यह गति शास्त्र का सामान्य नियम है कि दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष से ही गति पैदा होती है। यह विरोध 'मृच्छकटिक' में भी है और 'शकुंतला' में भी है।[1] इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन नाटकों में विरोध का सुर कभी प्रबल करके नहीं दिखाया जाता, उसका अंत सामजस्य में होता है। 'उत्तर-रामचरित' भवभूति का लिखा हुआ प्रसिद्ध भारतीय नाटक है। इस नाटक का विश्लेषण करके देखा जाए कि वहाँ यह विरोध या द्वंद्व किस प्रकार दिखाया गया है। इस नाटक का हिंदी अनुवाद कविवर सत्यनारायण कविरत्न ने किया था।

कई आलोचकों ने कहा है कि भवभूति का 'उत्तररामचरित' नाटक की अपेक्षा काव्य अधिक है। इसमें बारह वर्ष से भी अधिक दीर्घकाल की घटनाएँ कहीं गई है। और कुछ पात्र तो (जैसे लव, कुश और चंद्रकेतु) ऐसे हैं जो नाटक में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं, फिर भी नाटक की घटना आरंभ होने के समय जनमे ही नहीं थे। जिस वस्तु को पश्चिमी नाट्यशास्त्रियों ने समय संकलन और देश संकलन कहा है उसकी भवभूति ने बिलकुल उपेक्षा की है, परंतु फिर भी उनकी प्रतिभा ने इतने दीर्घकाल में व्याप्त घटना को बड़ी

सावधानी से संभाला है। पाठक समय के व्यवधान को एकदम भूल जाता है। भवभूति की उर्वर कल्पना ने एक पर एक ऐसे आकर्षक और हृदयग्राही चित्रों की सृष्टि की है कि पाठक उन्हीं में उलझा रह जाता है। प्रथम अंक में ही उस अपूर्व योग्यता का परिचय मिलने लगता है। नाटक में जब कोई ऐसा दृश्य आता है, जिसमें पात्र विपत्ति के कगार पर खड़ा होकर सुख की कल्पना करता रहता है और वह स्वयं तो उस विपत्ति की खबर नहीं रखता पर दर्शक उसे जानता होता है, तो इस परिस्थिति को नाटकीय भाग्य-विडंबना कहते हैं।

प्रथम अंक में सीता एक अतिशय क्रूर भाग्य-विडंबना के दरवाजे पर खड़ी हैं, यह वह नहीं जानतीं और पूर्व जीवन के वनवासकालीन आनंद और दुख से मिश्रित चित्रों को देखती जाती हैं, तथा फिर एक बार उन दृश्यों को देखने की अभिलाषा प्रकट करती हैं। इस प्रकार उनके भावी निर्वासन का बहाना राम को बड़ी आसानी से मिल जाता है। उस समय समस्त वृद्धजनों को अयोध्या से दूर रखकर नाटकाकर ने राम के क्रूर निश्चय के मार्ग की सभी बाधाओं को एकदम दूर कर दिया है। इस प्रकार शुरू में ही नाटक के अंतर्निहित द्वंद्व या विरोध का सूत्रपात हो जाता है। समस्त नाटक के भीतर राम का अंतर्द्वंद्व–उनके भीतरी प्रेम और बाहरी राजकर्त्तव्य का द्वंद्व–बहुत चतुरता के साथ शुरू में ही दिखा दिया गया है।

राम के चरित्र में व्यक्ति की अपेक्षा राजा के बाह्य कर्त्तव्य का जो प्राधान्य है उसी ने नाटक को एक अपूर्व करुण भाव से आर्द्र बना दिया है। परंतु चूंकि सीता के चरित्र में एकरसता अधिक है इसलिए नाटककार शुरू में ही उनकी ओर पाठक का ध्यान नहीं आकृष्ट कर सका है। परंतु तृतीय अंक में जब सीता अपने प्रियतम को देखती और क्षमा करती है तो भवभूति का चित्रण अत्यंत सुकुमार हुआ है। राम यद्यपि कर्तव्यपालन में कठोर है पर सीता के प्रति उनका प्रेम निस्संदेह अत्यधिक हैं। राम के चरितगत इस भीतरी विरोध को जितना इस अंक की घटनाएँ स्पष्ट करती हैं उतना और किसी अंक की नहीं। देशी और विदेशी सभी पंडितों ने स्वीकार किया है कि इस अंक में सीता के शांत, गंभीर और उदार आत्मसमर्पण में एक ऐसी रसवस्तु का साक्षात्कार होता है जो भवभूति की अपनी विशेषता है। सारे अंक में यद्यपि कुछ अप्राकृतिक अवस्थाओं का सहारा नाटककार ने लिया है, पर बड़ी चतुरता के साथ इस दैवी सहायता ने भावी मिलन और प्रेम को सांद्ररूप में प्रकट करने का मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

'उत्तररामचरित' का तृतीय अंक कवित्व, कल्पना और रसपरिपाक की दृष्टि से बेजोड़ है। अंतिम अंक में भवभूति की नाटकीय प्रतिभा सर्वोच्च स्थान तक उठी है। केवल भारतीय नाटकों की मिलनांत होने वाली रूढ़ि के पालन के लिए भवभूति ने अंतिम अंक में मिलन नहीं कराया है। वस्तुतः नाटक जिस रास्ते पर अग्रसर हुआ है उसकी सर्वोत्तम परिणति

यही है। ऐसा न होता तो, जैसा ए.बी. कीथ ने लिखा है, आधुनिक पश्चिमी आलोचक की दृष्टि में भी नाटक अपूर्ण ही रह जाता।

नाटक की क्रिया वस्तुतः दो प्रकार की होती है। साक्षात प्रवर्त्तित या प्रत्यक्ष तथा असाक्षात प्रवर्तित या परोक्ष। प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्द अधिक सुगम हैं, इनके लिए साक्षात प्रवर्तित और असाक्षात प्रवर्तित ये दो शब्द शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्यक्ष क्रिया नाटक के रंगमंच पर दिखाई देती है। मारना, लड़ना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। परंतु अप्रत्यक्ष या परोक्ष क्रियाएँ सात्विक अभिनय से दिखाई जाती है। दुखी होना, अनांदित होना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। शेक्सपियर के नाटकों में प्रत्यक्ष क्रिया का बाहुल्य है और बर्नार्ड शा तथा रवींद्रनाथ के नाटकों में परोक्ष क्रिया का। दोनों में सामंजस्य विधान होना चाहिए। नाटककार को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अकारण कोई क्रिया न दिखाई जाए। प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से नाटक की क्रिया रसोद्रेक में सहायता करती है।

भरत मुनि ने कहा है कि नाटक अवस्थाओं के अनुकरण का नाम है। अनुकरण केवल तीन तत्वों तक ही सीमित है : (1) घटना का, (2) पात्र का, और (3) बातचीत का। तीनों के अनुकरण तीन-तीन तरह से हो सकते हैं। या तो उन्हें, जैसा वे होते हैं उससे अच्छा करके दिखाया जा सकता है, या बुरा करके दिखाया जा सकता है, या ज्यों का त्यों दिखाया जा सकता है। चाहे नाटक यथार्थवादी हो या आदर्शवादी, पहले दो तरीके भद्दी रुचि के परिचायक हैं। यथार्थ से बुरा करके जो अनुकरण होगा उसमें खून-खच्चर शराब-कबाब, हत्या-डकैती आदि का प्राधान्य होगा। जो यथार्थ से अच्छा होगा उसमें आकाशवाणी, देवत्वारोप, पुष्पवृष्टि आदि का प्राधान्य होगा।

वस्तुतः नाटक का अनुकरण वास्तविक होना चाहिए। केवल उसका प्रभाव ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को पशु-सुलभ मनोवृत्तियों से ऊपर उठावे। मनुष्य नाना प्रकार की दुर्बलताओं और शक्तियों का समन्वय है। उसका अनुकरण भी वैसा ही होना चाहिए। कुछ लोगों का यह भ्रम है कि पाश्चात्य देशों में जिसे ट्रैजेडी कहते हैं वह दुखांत या वियोगांत घटना है। असल बात यह नहीं है। ट्रैजेडी दुखांत नाटक है, इसमे संदेह नहीं, परंतु यदि चरितनायक में ऐसी स्वाभाविक दुर्बलता न हो, जो उसके दुखमय अंत को स्वाभाविक रूप में बढ़ा ले चले, तो वह चीज़ ट्रैजेडी नहीं कही जाएगी। यदि शुरू में ही मान लिया जाए कि चरितनायक कभी भी सत्पथ से विचलित नहीं होने वाला व्यक्ति है तो ट्रैजेड़ी का रसपरिपाक अच्छा नहीं होगा, क्योंकि ट्रैजेडी के समस्त दुखों का मूल उत्स चरितनायक की दुर्बलता ही है। इसलिए नाटकीय चित्रण में वास्तविकता आवश्यक है। इन वास्तविकताओं के भीतर से ही उत्तम नाटककार महान् बनाने वाले नाटकीय प्रभाव को पैदा करता है।

चरित्र प्रधान नाटकों के प्रसंग में हिंदी के प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद का नाम लिया जा सकता है। उनके नाटकों के प्रधान आकर्षण दो हैं : (1) शक्तिशाली चरित्र और (2) कवित्वमय वातावरण। यद्यपि उनके चरित्रों में अनेक श्रेणी के लोग नहीं हैं, तथापि वे इतने सजीव हैं कि पाठक उनको भूल नहीं सकता। उसके आदर्श पात्रों में वीरता, प्रेम और देशभक्ति आवश्यक रूप से विद्यमान रहते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें बहुविधता नहीं आ पाई है।

उनके सभी आदर्श और आकर्षक पुरुष पात्रों को तीन मोटे विभागो में बांट लिया जा सकता है : (1) तत्वचिंतक, (2) कर्मठ वीर सैनिक और (3) कुटिल राजनीतिज्ञ। ये सभी पात्र प्रेमी होते हैं और प्रेम ही इनको दुर्बल या सबल बनाता है। उनके स्त्री पात्रों पर भी ये ही बातें लागू होती हैं। उन्हें भी तीन श्रेणियों में बांट लिया जा सकता है : (1) कुटिल राजनीतिज्ञ (2) प्रेमिकाएँ और (3) दुर्बल हृदय की महत्वाकांक्षिणी स्त्रियाँ।

उनके सभी नाटकों में कुछ घटा-बढ़ा कर ये छः प्रकार के चरित्र खोजे जा सकते हैं। फिर भी प्रसाद के पात्र उस प्रकार के टाइप नहीं है, जैसा कि पुराने साहित्य में राजा, रानी, ब्राह्मण, मंत्री आदि के टाइप बन चुके थे। रानी को कैसा होना चाहिए, राजा को कैसा होना चाहिए, ये बातें पहले से ही तय हो गई होती थी। नाटककार इन टाइपों को ही रसोद्रेक का वाहन बनाता था। प्रसाद का नाटक उस प्रकार के टाइप नहीं हैं। परंतु उनकी समूची ग्रंथावली पढ़ने वाला पाठक जरूर अनुभव करेगा कि यद्यपि उनके पात्र पुरानी रूढ़ियों के अनुसार 'टिपिकल' तो नहीं है परंतु उनके अपने ही मन से गढ़े हुए टाइप अवश्य हैं।

प्रसाद के नाटकों का दूसरा आकर्षण उनका कवित्वमय वातवरण है। उनके कई चरित्र मनुष्य रूप में प्रगीतमुक्त हैं। देवसेना और कार्नेलिया ऐसे ही मुक्तिक काव्य हैं। उनके जीवन में एक प्रकार का संगीत है, एक विशेष छंद है। परंतु केवल चरित्र ही नहीं प्रसाद के सारे नाटकों का वातावरण ही कवित्वमय है। पात्रों की बातचीत में, नाम में, हिलने-डुलने में सर्वत्र कवित्व का सुर ही प्रबल है। उन्होंने अपने युग के प्रधान प्रश्नों से मुंह नहीं मोड़ा है। उनके नाटकों में राष्ट्रीयता, सांप्रदायिक झगड़े, स्त्री का समानाधिकार, युद्ध का विषमय परिणाम, साम्राज्यवाद, विदेशी शासन आदि सभी बातें आई हैं। पर सब कुछ पर कवित्व का एक मोहक आवरण पड़ा हुआ है। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों को उनके चरित्रों और कवित्वमय वातावरण ने आकर्षक बना दिया है।

ऊपर जिस देश संकलन, काल संकलन और वस्तु संकलन की चर्चा की गई है उस पर यहाँ विचार कर लिया जाए। बहुत प्राचीन काल से यूनान के नाट्यशास्त्रियों ने वस्तु, काल और देश संबंधी तीन बातों के संकलन की मर्यादा बांध दी थी, अर्थात् किसी नाटक

का पूरा अभिनय किसी एक ही कृत्य से संबद्ध होना चाहिए। चौबीस घंटे में घटित घटना का ही संक्षिप्त रूप होना चाहिए और किसी एक ही स्थान पर घटित घटना का रूप होना चाहिए। इनको क्रमशः 'वस्तु संकलन, 'काल संकलन', और 'देश संकलन' कहा जाता है। शेक्सपियर ने इन तीन संकलनों को नहीं माना और आजकल के नाटककार भी इन्हें ज्यों का त्यों नहीं मानते। यद्यपि एक दिन, एक स्थान और एक कृत्य की संकीर्ण मर्यादा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इससे नाटककार अनावश्यक बंधनों से जकड़ जाता है, पर इन तीनों संकलनों के अंतर्निहित सत्य को भुलाया नहीं जा सकता। रंगमंच पर यदि एक दृश्य आज का दिखाया गया हो और दूसरा दस वर्ष बाद का तो सहृदय श्रोता के चित्त में विकल्प उत्पन्न होगा और उसकी रसानुभूति में बाधा पड़ेगी। इसी तरह दृश्य यदि दूर देशों में फटाफट परिवर्तित होते जाएं तो भी सहृदय का चित्त विकल्प में पड़ जाएगा। इसलिए नाटक के देश, काल और वस्तु में यथासंभव कम अंतर होना आवश्यक है। दीर्घकाल का अंतर दिखाने के लिए नाटककार को कौशल से काम लेना चाहिए। यदि बीच-बीच में कुछ दूसरे दृश्यों से दर्शक को इस प्रकार उलझा दें कि दर्शक देशगत और कालगत व्यवधानों को भूल जाए तो कालगत व्यवधान खटकता नहीं। कालिदास ने शकुंतला के प्रत्याख्यान और पुनर्मिलन के बीच इतने दृश्यों की अवतारणा की है कि काल और देश विषयक व्यवधान दर्शक को याद ही नहीं रहता।

नाटक बहुत अधिक निःसंग रचना है। सारे नाटक में कहीं भी यह मौका नहीं रहता कि हम नाटककार के अपने जीवन या अपने विचारों के विषय में कुछ जान सकें। प्राचीन काल में भारतीय नाटककारों ने इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए नाटक के आरंभ में प्रस्तावना रखने की प्रथा चलाई थी। प्रस्तावना में नाटक का सूत्रधार (व्यवस्थापक) अपनी पत्नी नटी से बातचीत करता था और कवि के नाम, धाम और यश का पता तो बताता ही था, नाटक किस अवसर पर खेलने के लिए बनाया गया था और इसमें किस प्रकार की बात आने वाली है, इसकी सूचना भी बड़े कौशल से दे देता था। नये युग में यह प्रथा उठ गई है। छापे की मशीनों ने इस विषय में दर्शक की सहायता की है। साधरणतः नाटककार का नाम और अभिनेताओं के नाम भी छाप कर दर्शकों तक पहुँचा दिए जाते हैं। पर इस नवीन प्रयत्न में न तो पुराना कौशल ही रह गया है, और न वह रसमय कवित्व ही, जो प्रस्तावना को जीवंत बना देते थे। फिर भी नाटक निस्संग रचना है, यह बात भुलाई नहीं जा सकती। इसीलिए नाटक में नाटककार का क्या उद्देश्य है, यह समझना कठिन रह ही जाता है।

प्राचीन युग में नाटक काव्य का ही एक भेद माना जाता था। इसलिए उसमें काव्यतत्व प्रचुर मात्रा में पाया जाता था। इधर पश्चिम के बर्नार्ड शॉ आदि लेखकों से प्राप्त प्रेरणा ने हमारे लेखकों को अधिक गद्यात्मक और बुद्धिमूलक नाटक लिखने को प्रवृत्त किया है।

इन नाटकों में सामाजिक रूढ़ियों और पर्दे के पीछे जो नग्न सत्य है उसके तथा चिराचरित प्रथा के मूल में निहित सत्य का विरोध दिखाया जाता है। विरोधी प्रायः तुल्यबल होते हैं और नाटक के अंत में दर्शक केवल समाज का विश्लेषण करने की बुद्धि और अनिश्चय लेकर उठता है। इन्हें समस्या नाटक नाम दिया गया है।

व्यक्ति और समाज के संबंध में सबसे प्रमुख और प्रधान है स्त्री और पुरुष का संबंध, जिसे बर्नार्ड शा ने एक जगह अंध जीवनशक्ति (बलाइंड लाइफ फोर्स) कहा है। इस अंधशक्ति के साथ मनुष्य के परिमार्जित संस्कारों का पदे-पदे विरोध है।

हिंदी समस्या नाटकों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली लक्ष्मीनारायण मिश्र है। उन्होंने जो अनुभव किया है, उसे नाटक के रूप में हमारे सामने रख दिया है, यथार्थ, ज्यों का त्यों। उन्होंने जानबूझ कर मनोरंजन के लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी, या पुण्यात्मा नहीं बनाया, बल्कि अपने चरित्रों को ज़िंदगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थमते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गए हैं, और नाटककार बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह बड़ी सावधानी से चलता गया है। प्रेमचंद के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रांति नहीं है, क्रांति है उनके अंत में। यह सच है कि उन्होंने भी क्रांति की है, सामाजिक या राजनीतिक नियमों की अवहेलना की है, किंतु कब? विरोधी उपकरण जब ज़िंदगी की राह रोककर खड़े हो जाते हैं। यही स्वाभाविक है। मिश्रजी की यह ईमानदारी उनके नाटकों में भारी आकर्षण ला देती है। उन्होंने पुरानी भावुकता के प्रति विद्रोह किया है। उनका कहना है कि 'प्रतिभा यदि वास्तव में कहीं है तो वह उसी पुराने रास्ते में धूल के भीतर घसीटी नहीं जा सकती। उसकी इच्छा कानून है, वह जिधर नज़र डालती है, नियम बनते जाते हैं। कलाकार वह कपास है जो तूफान में ठीक उत्तर की ओर इशारा–संकेत–करना है।' इस दृष्टि से इनके नाटकों में ठीक उत्तर की ओर संकेत करना ही आदर्श है, फिर भी उन्होंने अपने नाटकों को जो समस्या नाटक कहा है उसका कारण यह है कि वह पहले से ही समाधान को दृष्टि में रखकर अपनी रचना नहीं करते। वह उस बात की ओर उन्मुख है, जो एक नई दुनिया का निर्माण करेगी, जिसका आधार संस्करण और सेवा होगा, वर्गों की विषमता और घृणा नहीं। इसीलिए वे बर्नार्ड शा की उस प्रवृत्ति का अनुकरण करना पसंद नहीं करते जिसका काम उपहास करना है, सुधार करना नहीं।

मिश्रजी के नाटकों में नाटकीय कारीगरी निर्दोष नहीं कही जा सकती। दृश्यों के विधान में और समस्याओं की बेमेल योजना में त्रुटि खोजी जा सकती है, पर निस्संदेह उनमें अपने प्रतिपाद्य के भीतर प्रवेश करने की पैनी दृष्टि वर्तमान है।

लेकिन हिंदी में आज भी नाटकों में कवित्व पूरी मात्रा में है। तीन श्रेणी के नाटक ऐसे लिखे गए हैं जो काव्य के तत्वों से परिपूर्ण हैं :

1. प्रथम है 'रूपक नाट्य' जिनमें या तो मानवीय मनोरागों–जैसे कामना, विलास, संतोष, करुणा आदि– की मनुष्य रूप में कल्पना करके नाटकीय रससृष्टि करने का प्रयास होता है, या प्रकृति के भिन्न-भिन्न उपदानों की मानवरूप में अवतारणा की जाती है। प्रसाद की 'कामना' प्रथम श्रेणी में और सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्सना' दूसरी श्रेणी में आती है इन रूपकों के माध्यम से नाटककार अपना अभिमत, उद्देश्य व्यक्त करता है।

2. गीति-नाट्य पद्यात्मक बातचीत के रूप में लिखे जाते हैं। ये भी कवित्व की मात्रा लिए होते हैं। कवित्व से मतलब केवल पद्यबद्धता से नहीं बल्कि भावावेग, कल्पना और झंकार के वातावरण से है। नाटकों की गद्यात्मक क्रिया का इससे प्राधान्य नहीं होता, यद्यपि वह नाटकीय गुण इसमें रहना आवश्यक है, जो पात्रों और घटनाओं के घात-प्रतिघात से गति उत्पन्न करता है। हिंदी में बहुत बड़ी प्रतिभावाला गीति नाट्यकार कोई नहीं है।

3. इन्हीं से मिलते-जुलते अर्थात् भावावेग, कल्पना और झंकार का कवित्वमय वातावरण लिए हुए एक और प्रकार के नाटक होते हैं, जो गद्य में लिखे जाते हैं। इन्हें भावनाट्य नाम दिया गया है। ऐसे नाटकों मे सबसे प्रख्यात है गोविंद वल्लभ पंत की 'बरमाला'। उदयशंकर भट्ट ने भी अनेक नीतिनाट्यों और भावनाट्यों की रचना की है।

इधर एकांकी नाटकों का भी प्रचलन बढ़ रहा है। पुराने ज़माने में भी एक अंक में समाप्त होने वाले नाटक लिखे गए हैं। परंतु इधर के प्रयत्न नये हैं। इनमें गद्यात्मकता, मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति और समस्याओं की ओर संकेत प्रधान हो उठा है। ये कहानी की भाँति वैयक्तिक स्वाधीनता और गद्ययुग की उपज है। इनमें बड़े नाटकों की भाँति चरित्र के विकास का ज्यादा अवकाश नहीं होता। कहानी की भाँति एकांकी नाटक के चरित्र भी लेखक के उद्देश्य के साधन हो कर आते हैं। स्थान, समय और वस्तु का संकलन एकांकी के कौशल की जान है। कहानी की भाँति एकांकी नाटक भी एक घटना, एक परिस्थिति और एक उद्देश्य से बनता है। हिंदी में डॉ. रामकुमार वर्मा ने सबसे अधिक एकांकी नाटक लिखे हैं।

नाटककार का उद्देश्य समझना उपन्यासकार के उद्देश्य के समान सरल नहीं है। नाटक भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पात्रों के मुख से बोलता है। प्रत्येक पात्र की उक्ति से नाटककार का अपना मत व्यक्त नहीं होता, परंतु दो बातों को ध्यान मे रखने से नाटककार का

अपना उद्देश्य समझ में आ जाता है। प्रथम यह लक्ष्य करना चाहिए कि नाटककार किस पात्र की ओर सबसे अधिक सहानुभूति उत्पन्न कर रहा है और किस पात्र की ओर घृणा या उपेक्षा का भाव दिखा रहा है। सहानुभूति वाले पात्र के मुख से नाटककार प्रायः अपना मत प्रकट किया करता है।

आजकल तो नाटककार दीर्घ भूमिकाएँ लिखकर अपना मत प्रकट करने लगे हैं। नाटककार की गलतियों से भी उसके पक्षपात का अनुमान होता है। क्योंकि कभी-कभी उत्तम नाटककारों को भी अपने सिद्धांतों के प्रति अतिरिक्त मोह होने के कारण शिथिल और अनावश्यक दृश्यों का अवतरण करते देखा गया है। प्रसाद प्रायः नाटकों को गतिमान बनाने के बदले अपने ऐतिहासिक मतों और दार्शनिक विश्वासों को व्यक्त करने के फेर में पड़ जाते हैं और इस प्रकार गतिहीन दृश्यों की योजना कर बैठते हैं।

परंतु नाटक की परिसमाप्ति से भी नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट होता है। शकुंतला नाटक के प्रथम अंक में कालिदास ने दुष्यंत और शकुंतला में आकर्षण की योजना यौवनलीला के भीतर से की है। परिस्थितियाँ इस उच्छृंखल प्रेमाकर्षण को छिन्न-भिन्न कर देती है। अंतिम अंक में मलिन धूसरवसना, नियमाचरण से शुष्कमुखी, शुद्धशीला शकुंतला का दर्शन होता है। वहाँ कवि ने मिलन का माध्यम बालक को बनाया है। इस आदि और अंत को देखकर सहृदय के हृदय पर यह प्रभाव पड़ता है :

> मोह में जो अकृतार्थ हुआ है वह मंगल में परिसमाप्त है। धर्म में जो सौंदर्य है वही ध्रुव है और प्रेम का जो शांत, संयत तथा कल्याणमय रूप है वही श्रेष्ठ है, बंधन में ही यथार्थ की शोभा है, और उच्छृंखलता में सौंदर्य की आशु विकृति। भारतवर्ष के प्राचीन कवि ने प्रेम को ही प्रेम का लक्ष्य नहीं माना, मंगल को ही प्रेम का अंतिम लक्ष्य घोषित किया है। उनके मत में नर-नारी का प्रेम तब तक सुंदर नहीं होता जब तक कि वह बंध्य (निष्फल, निस्संतान) रहता है, कल्याण को नहीं अपनाता और संसार में पुत्र, कन्या तथा अतिथि प्रतिवेशियों में विभिन्न सौभाग्य से व्याप्त नहीं हो जाता—रवींद्रनाथ

और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगों की भांति नाटक का भी चरम लक्ष्य वही परम मंगलमय ऐक्यानुभूति है। जिससे वह पशुसामान्य प्रवृत्तियों से ऊपर उठता है और प्राणिमात्र के सुख-दुख को अपना समझ सकता है। नाटक की आलोचना के नाम पर आजकल बहुत ऊल-जलूल भ्रामक बातें फैलाई जा रही है। सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शा ने एक जगह लिखा है :

> कोई ऐसी बात नहीं कहता कि 'मैं पूर्वकालीन सुखांत और दुखांत नाटकों से उसी प्रकार घृणा करता हूँ कि जिस प्रकार धर्मोपदेशक से या संगीत से। किंतु मैं पुलिस केस या विवाह-विच्छेद के समाचार को या किसी भी प्रकार के नृत्य और सजावट आदि को पसंद करता हूँ, जो मुझ पर और मेरी पत्नी पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। बड़े लोग चाहे जो कहें मैं किसी प्रकार के बुद्धिमूलक कार्य से आनंद नहीं उठा पाता और न यही विश्वास करता हूँ कि कोई दूसरा ही उससे आनंद उठा सकता होगा।'

ऐसी बातें कही नहीं जाती। फिर भी यूरोप और अमेरिका के 90 फीसदी प्रसिद्ध पत्रों में नाटकों की समालोचना के नाम पर इन्हीं बातों का विस्तृत और पालिश किया हुआ अर्थांतर प्रकाशित होता है। अगर इन समालोचनाओं का यह अर्थ नहीं तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं है।

टिप्पणी :

1. यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय नाट्यशास्त्र में बताई हुई ये अवस्थाएँ नाटकीय कथानक के विकास की अवस्थाएँ हैं। नाटक के पांच उपादान और होते हैं। उन्हें शास्त्र में अर्थ प्रकृति कहा जाता है। पाँच और अवस्थाएँ गिनाई गई हैं जिनका नाम संधि दिया गया है। ये नाटकीय क्रिया को ध्यान में रखकर उद्‌भाषित की गई हैं। संधि का शब्दार्थ जोड़ है और इसलिए सहज ही अनुमान होता है कि पहले बताई हुई अवस्थाओं को जोड़ना ही संधियों का कार्य है, जहाँ नाटकीय क्रिया का स्वाभाविक विराम होता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था संक्रमित होती है, वहीं संधि होती है। पांच संधियाँ इस प्रकार हैं : मुख (आरंभ), प्रतिमुख (क्रिया की प्रगति), गर्भ (उद्‌भव या विकास), विमर्श (विराम) और परिसमाप्ति या निर्वहण।

2. 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का रंगमंचीय अध्ययन

देवेन्द्र राज अंकुर

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने बनारस में हिंदीभाषी और कुछ बंगालियों की संस्था नेशनल के लिए एक दिन में सन् 1881 में लिखा था और काशी के दशाश्वमेध घाट पर उसी दिन अभिनीत भी हुआ यह प्रहसन। 'अंधेर नगरी' के प्रायः प्रत्येक संस्करण में यह सूचना प्रकाशित है लेकिन शायद आज तक इसे सूचना से अधिक महत्व नहीं दिया गया। यों देखा जाए तो हिंदी साहित्य समीक्षा के इतिहास में इस बीस-बाईस पृष्ठ के नाटक को ही कभी गंभीरता से नहीं लिया गया, सूचना पर कौन गहराई से विचार करता? मानो इस नाटक का एक दिन में लिखा जाना ही इसके गहन अध्ययन एवं विश्लेषण न होने का कारण बनकर रह गया।

इसके विपरीत यदि हिंदी रंगमंच के पिछले एक सौ पंद्रह वर्षों के इतिहास को उठाकर देखा जाए तो 'अंधेर नगरी' सर्वाधिक खेले गए नाटक के रूप में प्रमाणित होगा–विशेष रूप से स्वतंत्रता के पचास वर्षों में तो इसके इतने प्रदर्शन हो चुके हैं कि उनका विवरण एकत्र करना भी निहायत दुष्कर काम होगा। इससे कालांतर में इस नाटक को मिली लोकप्रियता स्वयं सिद्ध है।

बहरहाल, उपर्युक्त सूचना में ऐसा क्या है जिसके उल्लेख से इस लेख की शुरुआत की गई है? मेरे विचार में इस सूचना में दो-तीन ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी मिलती है, जो इस नाटक के रंगमंचीय अध्ययन में अत्यंत सहायक है। सबसे पहला तथ्य तो यही है कि यह नाटक विशेष रूप से एक मंडली के सदस्यों को सामने रखकर लिखा गया है। चाहे वह मंडली अपने स्वरूप में नितांत शौकिया रही हो, लेकिन नाटककार और रंगमंडली के बीच एक अंतरंग संबंध की ओर संकेत करती है। ऐसे संबंध हमारी नाट्य परंपरा में आरंभ से ही मौजूद रहे हैं, पश्चिम में भी ग्रीक एवं शेक्सपीयर के संदर्भ में इसका उल्लेख किया जा सकता है। स्वयं भारतेंदु के समकालीन पारसी रंगमंच में यह परंपरा उपलब्ध थी। अतः एक नाटक लिखने से पहले उस मंडली के सदस्यों में क्या

क्षमताएँ और संभावनाएँ हैं, इसकी जानकारी उसके पास उपस्थित है, जो निश्चित रूप से नाटक की शिल्पगत संरचना और उसकी रंगमंचीयता को प्रभावित करती है।

दूसरी महत्वपूर्ण जानकारी यह है कि उसी दिन इस नाटक का मंचन भी हुआ और स्वयं नाटककार उस प्रदर्शन से संबद्ध था। दरअसल, यही बात आलोचकों के गले नहीं उतरती कि क्या यह संभव है कि उसी दिन नाटक लिखा जाए और उसी दिन उसका मंचन हो जाए? लेकिन थोड़ा गंभीरतपूर्वक विचार किया जाए तो ऐसा होना कोई असंभव बात नहीं है। यहाँ तो फिर भी एक लिखित आलेख पहले से अभिनेताओं के सामने थे, यदि भारतेंदु मात्र एक स्थिति अथवा कहानी का खाका उनके सामने प्रस्तुत कर देते तो क्या वे अभिनेता उस पर एक नाटक प्रस्तुत नहीं कर सकते थे? यदि यह अनहोनी या असंभव-सी बात नज़र आती है, तब तो हमें मध्यकाल से चली आ रही उन तमाम लोक नाट्य कलाओं के अस्तित्व को ही नकारना होगा और यहाँ इस बात को दुहराने की ज़रूरत नहीं कि भारतेंदु स्वयं उनसे भली-भाँति परिचित थे। उन लोक नाटकों के कथानकों की तरह ही 'अंधेर नगरी' की कहानी भी न जाने कब से जन-मानस में चली आ रही है और उसी के साथ यह कहावत भी–अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

और तीसरी और शायद सबसे ज़्यादा रोचक सूचना है–नाटक का काशी के दशाश्वमेध घाट पर खेला जाना। इस दृष्टि से 'अंधेर नगरी' को हिंदी रंगमंच का पहला नुक्कड़ नाटक माना जाना चाहिए जो खुले में, पूरी तरह से अनौपचारिक वातावरण में मंचित हुआ। नाटक का खुले में मंचित होना कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि रामलीला जैसे लोकनाटक को खुले में मंचित करने की एक लंबी परंपरा स्वयं बनारस में ही विद्यमान थी, लेकिन वह वर्ष के कुछ विशेष दिनों में ही और व्यवस्थित रूप में पूर्व घोषित कार्यक्रम के अनुसार संपन्न की जाती थी। लेकिन 'अंधेर नगरी' के साथ ऐसा कुछ भी नहीं था, न तो नाटक के लिखे जाने की पूर्व सूचना और न ही उसके मंचन की पूर्व सूचना, ठीक आज के नुक्कड़ नाटक की तरह एक तात्कालिक घटना के रूप में एक स्थान विशेष पर प्रदर्शन। इतना ही नहीं, अपने कथ्य एवं कलेवर में भी आज के नुक्कड़ नाटक की-सी राजनीतिक ध्वनियाँ, गीत-संगीत एवं कोरस जैसे लोकप्रिय रंग-तत्वों का इस्तेमाल, लंबे-लंबे संवादों एवं एकालापों का अभाव और कुल मिलाकर लगभग तीस-पैंतीस मिनट की संक्षिप्त अवधि में बँधा हुआ। ये सारी चीज़ें मिलकर इस नाटक को आज के नुक्कड़ नाटकों से भी कहीं अधिक आगे की रचना प्रमाणित करती हैं।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में इस नाटक के रंगमंचीय तत्वों पर खुलकर विचार किया जा सकता है, लेकिन उसके पूर्व एक बात की ओर संकेत करना अप्रांसगिक न होगा। आख़िर इस नाटक की सामान्य-सी, यहाँ तक कि बच्चों की-सी लगने वाली कथा में

ऐसा क्या आकर्षण है कि रंगकर्मी बार-बार इस नाटक की ओर लौटते रहते हैं? वह आकर्षण है इसके कथ्य की शाश्वतता अर्थात् एक ऐसी शासन-व्यवस्था जो भीतर तक इतनी भ्रष्ट है, जो किसी भी काल के लिए उतनी ही आधुनिक, समकालीन और सार्थक रहेगी, जितनी कि अपने समय में रही होगी। यही कारण है कि यदि उस समय इस प्रहसन को अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था के चित्रण के रूप में देखा गया, तो आज की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियों में तो इसकी प्रासंगिकता और भी ज़्यादा बढ़ गई है और आगे भी बढ़ती ही जाएगी। इतिहास साक्षी है कि साहित्य में वही रचनाएँ कालजयी सिद्ध हुई हैं, जिन्होंने सदैव शाश्वत एवं सार्वजनीन कथ्यों को अपना आधार बनाया। मात्र प्रदर्शन के स्तर पर ही नहीं, 'अंधेर नगरी' ने तो लेखन की दृष्टि से भी अपनी परवर्ती कई नाट्य-रचनाओं को प्रेरित और प्रभावित किया। उदाहरण के लिए, भारती का 'अंधा युग' (नाम साम्य पर भी ग़ौर करें), ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' और शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद ख़ाँ'।

भारतेंदु ने भारतीय-शास्त्रीय एवं लोक–और पाश्चात्य रंगतत्वों का ऐसा सहज, सरल एवं उन्मुक्त उपयोग किया है कि इससे नाटक के भीतर से अनेक प्रस्तुति शैलियों की खोज की जा सकती है। नाटक में छः अंक हैं, लेकिन वे अपने आकार एवं कलेवर में इतने छोटे-छोटे हैं कि उन्हें अंक की संज्ञा न देकर, दृश्य कहना ज़्यादा समीचीन होगा अथवा एक ही अंक के छः दृश्यों के रूप में लिया जाना चाहिए। लेकिन छोटे-छोटे दृश्य होने के बावजूद वे हर बार एक नए परिवेश की माँग करते हैं। यथा पहला अंक–स्थान : बाह्य प्रांत। अंक द्वितीय–स्थान : बाज़ार। अंक तीन–स्थान : जंगल। अंक चतुर्थ–स्थान राजसभा। अंक पंचम्–स्थान : अरण्य। अंक षष्टम–स्थान श्मशान।

स्पष्ट है कि कुल मिलाकर बीस-बाईस पृष्ठों के नाटक में छः दृश्य हैं और वे भी इतने छोटे-छोटे कि कोई भी यथार्थवादी दृश्य-सज्जा कारगर नहीं हो सकती। ग्रीक अथवा शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति अंक बिना लंबे-चौड़े मंच निर्देशों के सीधे-सीधे कार्य-व्यापार से शुरू होता है और तेज़ी से पटाक्षेप के साथ समाप्त भी हो जाता है। इस पटाक्षेप से एक संकेत तो मिलता है कि शायद पारसी रंगमंच में प्रयुक्त रंगे हुए परदों की परिकल्पना भारतेंदु के मन में भी रही होगी, जो उस समय विक्टोरिया रंगमंच में भी इस्तेमाल हो रहे थे। थोड़ा और गहराई से देखें तो यह परदों वाली युक्ति व्यर्थ लगने लगती है। सभी दृश्य अपने में इतने घटना-बहुल एवं जीवंत हैं कि रंगे हुए परदों जैसी स्थिर दृश्य-परिकल्पना कहीं-न-कहीं पूरे नाटकीय प्रभाव को क्षीण ही करेगी। नाटक की दृश्य-योजना में एक और नाटकीय संयोजन बड़ी कुशलता से पिरोया गया है–नाटक का एक दृश्य यदि मात्र तीन-चार पात्रों के बीच घटित होता है तो तुरंत अगला दृश्य एक बड़े

जनसमूह में परिवर्तित हो जाता है और यह प्रक्रिया पहले दृश्य से छठे दृश्य तक नियमित रूप से चलती है। यह दृश्य-विधान अप्रत्यक्ष रूप से पारसी नाटकों के उस रूप-विधान की याद दिलाता है, जहाँ एक दृश्य बाहरी होता है और दूसरा भीतरी। यहाँ बेशक सभी दृश्य बाहरी परिवेश में संयोजित हैं, मात्र राजसभा वाले दृश्य को छोड़कर, लेकिन वे इस अर्थ में भीतरी और बाहरी कहे जा सकते हैं, जैसे कि कम पात्रोंवाले दृश्य भीतरी अथवा सीमित फ़लक लिए हुए और भीड़ वाले दृश्य परिवेशगत विस्तार की अपेक्षा रखते हैं।

अतः स्वाभाविक रंग-परिकल्पना ऐसी हो सकती है कि मंच पर स्थायी दृश्य-सज्जा के रूप में कुछ भी न रहे, आवश्यकता है तो एक-आध दृश्य-खंड लाकर रख दिए जाएँ और हटा दिए जाएँ अथवा पूरे नाटक के दौरान मंच दृश्य-सज्जा की दृष्टि से बिल्कुल खाली रहे, सिर्फ कभी-कभी मंच-उपकरण लाए जाएँ, जैसे कि राजा के सिंहासन के लिए अथवा फ़ाँसी के तख्ते के रूप में कोई उपकरण। इस प्रकार की दृश्य-सज्जा के स्रोत हमें संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय रंग-परंपरा में तो मिलते ही हैं, उसकी पुष्टि ग्रीक व शेक्सपीरियन रंगमंच और अंततः हमारी अपनी लोक नाट्य परंपराओं से भी हो जाती है।

नाटक किसी काल-विशेष की सीमाओं से भी परे है, अतः वेशभूषा, रूप-सज्जा, केश-विन्यास आदि तत्वों को लेकर भी नाटक एक उन्मुक्तता एवं स्वतंत्रता की माँग करता है। लेकिन सबसे बड़ी चुनौती है इस नाटक के लिए एक उचित एवं सार्थक अभिनय शैली की खोज। क्या इसे एक प्रहसन मानकर आवश्यकता से अधिक अतिरंजित और काफ़ी हद तक बनावटी शैली को अपना लिया जाए? क्या नाटक की तात्कालिकता एवं समसामयिकता के चलते यथार्थवादी अभिनय का आश्रय लिया जाए? क्या किसी प्रदेश विशेष की रीतिबद्ध शैली पर आधारित अभिनय एवं गतिविधान की ओर बढ़ा जाए?

मुझे नहीं लगता कि हम किसी एक शैली से काम चला सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटक के पाँच-छः गीत, जगह-जगह पर सुभाषित की तरह दोहों का प्रयोग संस्कृत नाटकों की गद्य-पद्य वाली नाट्यधर्मी प्रस्तुति-शैली की याद दिलाता है लेकिन यहाँ पद्य का इस्तेमाल पूरी तरह से उस जटिल आंगिक अभिनय की तरफ़ बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करता, क्योंकि उन गीतों में न तो कोई अमूर्त भाव या बिंब ही दृष्टिगोचर होते हैं और न ही वे किसी प्रकार के चित्राभिनय की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः नाटक का कथ्य एक लोकधर्मी प्रस्तुति-शैली की माँग करता है, लेकिन प्रश्न यह उठता है कि यह लोकधर्मी शैली कैसी हो? सबसे पहले तो उस लोकधर्मिता अर्थात् रोज़मर्रा की ज़िंदगी की तस्वीर का अध्ययन किया जाए। महंत और उसके दो चेले–नारायणदास और गौबरधनदास, कबाववाला, घासीराम चने वाला, नारंगीवाला, हलवाई, कुँजड़िन, मुगल, पाचकवाला, मछलीवाली, जातवाला (ब्राह्मण), बनिया, सेवक, राजा, मंत्री, फ़रियादी,

कल्लू, कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया, कोतवाल, प्यादे, सिपाही–देश और समाज के इतने व्यवसायों और रंगों का प्रतिनिधित्व और किस नाटक में मिलेगा? यों कहने को यह एक लघु नाटक है, लेकिन यदि प्रत्येक भूमिका के लिए अलग-अलग अभिनेता लिए जाएँ तो कम-से-कम तीस-पैंतीस लोगों की ज़रूरत पड़ेगी। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि जब-जब मंच पर बाज़ार, राजसभा और श्मशान के दृश्य आते हैं तो कितनी तरह के रंग, कितनी तरह की वेशभूषाएँ, कितनी तरह की बोलियाँ और भाषाएँ, कितनी तरह की चाल-ढाल–ये सब कुछ आपस में ही एक ऐसी विविधता भरी शैली प्रस्तुत कर देते हैं कि नाटक में अलग से किसी शैली के आरोपण की तरफ़ ध्यान जा ही नही सकता। संपूर्ण भारतीय नाट्य साहित्य में जीवन की इस बहुरंगी झाँकी की दृष्टि से या तो शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की याद आती है या फिर आज के नाटक हबीब तनवीर के 'आगरा बाज़ार' को रेखांकित किया जा सकता है। कैसा संयोग है कि तीनों नाटक नाट्यधर्मी की अपेक्षा लोकधर्मी प्रस्तुति शैली पर ही ज़्यादा आश्रित हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि नाटक की सहज, सरल एवं लचीली संरचना के अनुरूप ही प्रस्तुति-शैली भी होनी चाहिए। यही कारण है कि आज तक इस नाटक की जितनी भी प्रस्तुतियों को देखने का अवसर मिला है, उनमें प्रायः पहले से बनी-बनाई अथवा किसी निश्चित शैली को न अपनाकर स्वयं से प्रस्तुति के दौरान विकसित अभिनय एवं प्रस्तुति शैली को रूपायित करने का प्रयत्न किया गया। यहाँ उन सब प्रस्तुतियों पर चर्चा करना तो संभव नहीं होगा, फिर भी सुविधा के लिए तीन प्रस्तुतियों की चर्चा एवं विवचेन अपेक्षित है, जो अपने प्रस्तुतीकरण में तो एक दूसरे से बिलकुल अलग थी हीं, इनसे इस बात के भी कुछ ठोस संकेत मिल सकेंगे कि अंततः किसी निर्देशक की अपनी मौलिक परिकल्पनाएँ एक सीधे-सादे से कथानक में कितनी गहराई, जटिलता एवं समसामयिकता खोजकर दर्शकों को चमत्कृत एवं अभिभूत कर देती हैं।

पहली प्रस्तुति है स्वतंत्रता के इक्कीस वर्ष बाद 1968 में हिंदी रंगमंच शतवार्षिकी के अवसर पर प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद द्वारा डॉ. सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में मंचित। इससे पूर्व भी एक बार डॉ. सिन्हा 'अंधेर नगरी' को 1965 में प्रस्तुत कर चुके थे, जिसमें उन्होंने इस नाटक को नए संदर्भों में स्थापित करने की चेष्टा की थी। वेशभूषा प्रायः आधुनिक ही थी, राजसभा के दृश्य में अभियुक्तों के लिए मुखौटों का प्रयोग किया गया, बाज़ार वाले दृश्य को भी आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया गया। राजा की चाल-ढाल शैलीबद्ध थी, सब्ज़ीवाली स्लैक्स में आई तो भी फ़रियादी और कुछ दूसरे पात्र परंपरागत ही रहे। इस प्रकार कुछ आधुनिक तत्वों एवं युक्तियों के प्रयोग के बावजूद प्रस्तुति की शैली परंपरागत ही रही।

लेकिन जब 1968 में निर्देशक ने इस नाटक को दुबारा मंचित किया तो पूरी प्रस्तुति का मिज़ाज ही बदल गया। यह वह समय था जब पड़ोसी देशों के साथ क्रमशः 1962 और 1965 में दो-दो युद्ध झेलने के बाद भारतीय जनमानस का पूरी तरह से मोहभंग हो चुका था। स्वतंत्रता के पश्चात् उसके मन में नई दुनिया को लेकर जो भी आशाएँ, आकांक्षाएँ और सपने थे, वे टूटकर बिखर चुके थे और तात्कालिक वर्तमान की अर्थहीनता, जीवन का बेडौलपन और खोखलापन–प्रायः सब कुछ उजागर होने लगा था। अतः निर्देशक ने भी प्रस्तुति के माध्यम से नई पीढ़ी की बदलती हुई हरकत को रेखांकित करने की चेष्टा की। बाबा अर्थात् आज के शुभ्र-वेशधारी विदेशों से नाता लगाए धनसंपन्न योगी, चेले नारायणदास–गोबरधनदास यानी हमारी वह नई पीढ़ी, जिस पर हिप्पी-बीटनिक संस्कृति अनायास हावी हो रही है, राजा अर्थात् सत्ता के लिए या सत्ता पर बने रहने के लिए जितनी भी सिद्धांतहीनता बरती जा सकती है–उनका प्रतिनिधि। मंत्री मानों उन सब विदेशी ताकतों का प्रतिनिधि जिनके इशारे पर सत्ता नाचती रहती है। फ़रियादी वह साधारणजन जो सदियों से न्याय माँग रहा है, लेकिन उसे आज तक न्याय नहीं मिला। कल्लू बनिया, कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया और कोतवाल–अपने-अपने स्वार्थों में लिप्त लोगों का जमघट, जिन्हें राजा और उनके शासन की कोई चिंता नहीं क्योंकि वे जब चाहें तब राजा को गद्दी से उतार दें। इस प्रकार सन् 1881 में लिखा नाटक निर्देशक के लिए एकदम से समसामयिक हो गया।

इसी आधुनिकता एवं समसामयिकता को प्रस्तुति की शैली में भी पिरोने की कोशिश की गई–नाटक के शीर्षक गीत 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' को आधुनिक स्वर में गाकर टेपबद्ध कर लिया गया, जिससे पूरे नाटक में एक लयबद्धता आ गई। बाज़ार-दृश्य के सभी पात्रों और नारायणदास-गोबरधनदास को पाश्चात्य नृत्य-शैली ट्विस्ट और शेक के माध्यम से गतिचर्या दी गई और उसी के अनुसार संवादों की अदायगी कराई गई। नाटक में स्थान-स्थान पर अचानक पात्रों का स्थिर हो जाना, दर्शकों के सामने ही पात्रों द्वारा नाचते-गाते मंच-सामग्री में परिवर्तन करवाना, फ़ाँसी-दृश्य में ऐसी भूखी-नंगी जनता की अवधारणा करना जो फ़ाँसी स्वीकार किए राजा को फ़ाँसी से न उतरने दे। मंच की परिकल्पना बहुआयामी थी और नाटक की शुरुआत दर्शकों के मध्य जुलूस निकालकर मंच पर पहुँचने से की गई। कुल मिलाकर 1881 की भाषा और परिवेश पर 1968 का तत्कालीन वर्तमान सफलता के साथ आरोपित हुआ और इस प्रकार वर्तमान की समस्त कुंठा, वहशीपन, नकलची प्रवृत्ति और काल से उत्पन्न खोखलापन आदि पर इस प्रहसन की ऐसी प्रस्तुति के माध्यम से किसी सीमा तक अवश्य ठोकर लगी।

संक्षेप में, डॉ. सत्यव्रत सिन्हा की यह मंच-प्रस्तुति इसलिए बेहद चर्चित, उत्तेजक एवं विवादास्पद साबित हुई, क्योंकि निर्देशक ने एक सीधे सपाट नाटक को अपने समकालीन संदर्भों से विचार के स्तर पर तो जोड़ा ही, उसकी प्रस्तुति शैली के लिए भी नितांत आधुनिक और किसी हद तक पाश्चात्य शैली से लिए गए तत्वों का उपयोग किया और उनका ऐसा सम्मिश्रण किया कि वे कहीं भी अलग से नहीं दीख पड़ते थे। आज से लगभग तीस वर्ष पहले एक भारतीय नाटक को संपूर्ण रूप में पाश्चात्य रंग एवं अभिनय शैली के भीतर से प्रस्तुत करना निश्चय ही साहस का काम था और दर्शकों ने प्रस्तुति को खुले मन से स्वीकार किया और सराहा। यह प्रस्तुति की सफलता मानी जाएगी।

'अंधेर नगरी' की दूसरी प्रस्तुति संयोग से स्वतंत्रता के बाद के पहले बहुत ही महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक दौर में होती है। इमर्जेंसी का 1975 में लगाया जाना और 1977 में हटाया जाना। चुनावों की घोषणा और पहली बार अखिल भारतीय कांग्रेस की करारी हार और उसके स्थान पर जनता पार्टी का शासन, लेकिन मात्र डेढ़ वर्षों के भीतर ही भारतीय राजनीति के इस दूसरे दौर का असली और विकृत चेहरा उजागर हो गया अर्थात् पार्टी बदल जाने से राजनीतिज्ञों के चरित्र में कोई मूलभूत अंतर नहीं आया और एक बार फिर से वही अक्षम, भ्रष्ट और धूर्त शासन-व्यवस्था। इन्हीं स्थितियों की पृष्ठभूमि में ब.व. कारंत ने 1978 के उत्तरार्द्ध में इस नाटक की एक बिलकुल ताज़ी, उत्तेजक एवं आकर्षक मंच-प्रस्तुति करके दर्शकों पर एक अलग ही तरह का असर पैदा किया।

कारंत की प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रांगण में खुले आसमान के नीचे एक भव्य और विशाल अभिनय क्षेत्र को आधार बनाकर की गई। मंच के नाम पर एक बड़ा-सा गोलाकार धरातल और उसके पीछे की दीवार पर कपड़े के बदले सफ़ेद परदे पर बनारस शहर को रेखाओं में उकेरता एक चित्र–दृश्यबंध के नाम पर बस इतना ही। इसके अतिरिक्त चारों ओर फैला खुला परिवेश भी मानो अभिनय क्षेत्र का ही एक हिस्सा था। प्रस्तुति में लगभग 40 अभिनेता थे, जो नाटक के आरंभ में बहुत दूर से राम-राम भजो गाते हुए मंच पर प्रवेश करते थे और फिर नाटक के अंत तक एक घेरा बनाकर वहीं बेठे रहते थे। इसी घेरे के भीतर अलग-अलग दृश्यों के समूह बनते-बिगड़ते रहते थे।

पूरी प्रस्तुति की परिकल्पना किसी भी जानी पहचानी लोक नाट्य शैली पर आधारित नहीं थी, फिर भी गीत, संगीत, मुद्राओं और रंगों के माध्यम से अपनी ही एक नई एवं निजी शैली तैयार होती हुई जान पड़ी। एक उत्सवधर्मी और अनुष्ठानपरक वातावरण के निर्माण के भीतर से फ़रियादी की असहनीय पीड़ा और व्यवस्था के नितांत संवेदनशील चरित्र को उभारने का प्रयत्न किया गया।

संपूर्ण नाटक को एक विशेष प्रकार की संगीतमयता के माध्यम से प्रस्तुत किया गया, जिसमें एक ही गीत का बार-बार दोहराया जाना, उसी के साथ चरित्रों की गतियाँ एवं चर्चाएँ, कम-से-कम मंच-उपकरणों का इस्तेमाल और प्रत्येक पात्र के साथ गले में लटका या कमर में बँधा एक जोड़ा मंजीरा, पात्रों की वेशभूषा में कहीं तो परंपरागत धोतियाँ, पटके और पगड़ियाँ और कहीं राजा, मंत्री, कोतवाल और उनसे जुड़े लोगों के सिरों पर लंबी कार्टूननुमा टोपियाँ, नाटक में विभिन्न भाषाओं और बोलियों की ध्वनियाँ–इन सबने मिलकर एक मेले का-सा दृश्य उपस्थित कर दिया।

कुछ नाटकीय युक्तियाँ तो अपनी मौलिकता में अद्‌भुत थीं–उदाहरण के लिए गोबरधनदास के मोटापे को दिखाने के लिए दो अभिनेताओं का एक ही ड्रेस में बंद होकर हरकतें करना, स्त्री फ़रियादी का बीच-बीच में 'मेरी बकरी' जैसे एक संगीत-याचना के रूप में हस्तक्षेप और बाज़ारवाले दृश्य में अंधेर नगरी चौपट राजा के बार-बार दोहराव के साथ गोबरधनदास का नृत्य।

लेकिन इन सारे नाटकीय एवं रंगमंचीय तत्वों की तुलना में जिस चीज़ ने सबसे ज़्यादा ध्यान आकर्षित किया, वह थी नाटक के अंत की मौलिक व्याख्या–राजा के फ़ाँसी चढ़ जाने के बाद महंत का ही राजा के रूप में सिंहासनारूढ़ होना और दोनों चेलों का उसके दरबारियों के रूप में स्थानांतरण। महंत का शराब के लिए पुकार लगाना और जैसे फिर से उसी क्रम की एक और शुरुआत–व्यवस्था कोई भी आ जाए उसका मूल चरित्र कभी नहीं बदलता और वह अंततः उसी भ्रष्ट तंत्र में परिवर्तित हो जाती है। इतिहास में फ्रांसीसी क्रांति का उदाहरण हमारे सामने हैं, कुल जमा सत्तर वर्षों में नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी रूसी क्रांति हमारे समाने है और नाटक की प्रस्तुति के लगभग एक वर्ष बाद ही दूसरी आज़ादी के रूप में प्रचारित नई शासन-व्यवस्था का अंत–इन सबके संदर्भ में प्रस्तुति के अंत की यह व्याख्या कितनी सटीक बैठती है।

दोनों प्रस्तुतियों के अभिनय पक्ष पर भी अलग से टिप्पणी अपेक्षित है। जहाँ डॉ. सिन्हा की प्रस्तुति में पाश्चात्य शैली से प्रेरणास्वरूप निर्मित शैली में अभिनेता को व्यक्तिगत स्तर पर भी प्रमुखता मिली और गोबरधनदास और राजा की भूमिका में अभिनेताओं को अपने पूरे व्यक्तित्व की छाप स्थापित करने का अवसर मिला, वहाँ कारंत की प्रस्तुति में अभिनेता व्यक्तिगत रूप में अलग से उभरकर नहीं आए। इसका कारण प्रस्तुति में उत्सवधर्मी शैली का अपनाया जाना है। जिस तरह एक उत्सव में एक पूरे जनसमूह की भागीदारी होती है, उसी तरह से इस प्रस्तुति में भी सभी अभिनेता लगातार मंच पर बैठे हुए थे और उन्हीं के बीच से आवश्यकतानुसार दृश्यों का निर्माण होता चलता था। एकाध दृश्य में अपवादस्वरूप भले ही किसी अभिनेता ने अलग से ध्यान आकर्षित कर लिया हो लेकिन

सही मानों में प्रस्तुति का संपूर्ण प्रभाव उनके सामूहिक समन्वय एव संयोजन के कारण ही पड़ा। दूसरे शब्दों मैं कहूँ तो यह प्रस्तुति अभिनय की अपेक्षा, शब्दों, उनकी अलग-अलग ध्वनियों, अलग-अलग व्याख्याओं एवं अलग-अलग संगीत के कारण ज़्यादा चर्चित हुई थी।

अंत में, भारतेंदु नाट्य अकादेमी, लखनऊ के छात्रों के साथ 1978 के अंतिम सप्ताह में मंचित और स्वयं निर्देशित प्रस्तुति की चर्चा करना चाहूँगा। इस पर एक बार 1979 में दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस में आयोजित सेमिनार में भी चर्चा हुई थी। प्रस्तुति को नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट नाट्य-मंडप पर परिकल्पित किया था–मंच का विधान तो विकृष्ट नाट्य मंडप का था ही, अभिनेताओं की गतियाँ, प्रवेश-प्रस्थान आदि भी उन्हीं शास्त्रीय नाट्य-रूढ़ियों से प्रेरित थे। यद्यपि आंगिक अभिनय में किसी जटिल मुद्रा विधान का आश्रय नहीं लिया गया था, फिर भी संपूर्ण प्रस्तुति को मूकाभिनय पर ही केंद्रित किया गया था अर्थात् कोई भी मंच उपकरण या किसी दूसरी सामग्री को इस्तेमाल में नहीं लाया गया था।

वेशभूषा को महज़ तीन रंगों में सीमित करके एक विशेष अर्थ को व्यंजित करने की कोशिश की गई थी–महंत और उसके दोनों चेलों के लिए गहरा क़ेसरिया, राजा के लिए गहरा हरा और बाक़ी सभी पात्रों के लिए भूरा-मटमैला, जो एक प्रकार से सामान्य जनता के भी प्रतिनिधि थे। प्रस्तुति का सशक्त पक्ष था उसका वाचिक–मेरे लिए महंत और चेलों की कहानी से भी ज़्यादा जनसमूह में व्याप्त असंतोष एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण थी। इसीलिए बाज़ार के दृश्य में सभी को अपनी चीज़ें टके सेर विवशता में बेचनी पड़ रही है, राजसभा के दृश्य में सभी लोग जानबूझकर एक मूर्ख किंतु निरंकुश राजा के साथ खेल खेलते चले जाते हैं और जब अंत में उस व्यवस्था का अंत हो जाता है तो खूब खुश होकर नाचते-गाते हैं। मात्र दस अभिनेताओं की मंडली से एक बड़े जनसमूह का आभास ज़्यादा वाचिक अभिनय के अलग-अलग रूपों के प्रयोग से संभव हो गया।

अंत में, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भले ही साहित्यिक, आलोचनात्मक एवं एक पाठ्य कृति के रूप में 'अंधेर नगरी' को हाशिए पर रख दिया गया था, लेकिन मंच पर अपने लगातार प्रयोगों के कारण उसने स्वतः ही अपने-आपको भारतीय रंगमंच के एक ऐसे सदाबहार नाटक के रूप में प्रतिष्ठित करा लिया है जिसे बच्चों के साथ खेला जाए अथवा वयस्क अभिनेताओं के साथ-दर्शक उसके व्यंग्य की धार से अछूते नहीं रह पाते और उसका कथ्य सदैव ताज़ा बना रहेगा क्योंकि वह काल और स्थान विशेष की सीमाओं से परे है।

3. प्रसाद के नाटक : भाषा, भावबोध और मंचन

विजय मोहन सिंह

जयशंकर प्रसाद के नाटकों के साथ प्रारंभ में ही एक बड़ी दुर्घटना यह हुई कि वे पाठ्यक्रम में डाल दिए गए। अतः वे 'पाठ्य' बन गए, 'दृश्य' या 'श्रव्य' नहीं बन सके। यानी वे 'शिक्षण' की वस्तु तो बन गए, मगर प्रशिक्षण की नहीं। इसी क्रम में उनके 'व्याख्याताओं को (उन पर व्याख्यान देने वालों को) उनका मंचन भी टेढ़ी खीर लगने लगा। कभी उन्हें उनमें शास्त्रीय अर्थ में 'संकलनत्रयी' के समन्वय की कमी लगी, कभी उनके संवाद दुरूह और बेहद बोझिल। कभी वे उन्हें इतने लंबे और उबाऊ लगे कि संवाद बोलने वाले की साँस फूल जाए तथा दर्शकों को जम्हाइयाँ आने लगें। यही नहीं, उन्हें उनमें अद्‌भुत किस्म की असमझ चीज़ें नज़र आने लगीं। मसलन यदि नाटक का पहला दृश्य तक्षशिला का है तो दूसरा पाटलिपुत्र का। प्रसाद के नाटकों के इन स्वयंभू व्याख्याताओं को (हालाँकि स्वयं उन्हें न तो नाटक के बारे में कुछ पता होता था, न रंगमंच के बारे में) इन नाटकों के मंचन की इतनी कठिनाइयाँ नज़र आने लगी कि उन्हें रंगमंच से प्रायः बहिष्कृत तथा बरख़ास्त कर दिया गया। उनकी ये तथाकथित कठिनाइयाँ यदि आज के आधुनिक नाट्य निर्देशकों को हास्यास्पद लगें तो कोई अचरज नहीं। जैसे कि कैसे दिखाए जाएँगे रंगमंच पर पहाड़, नदियाँ, झरने, जंगल और किले। युद्ध तो नाट्यशास्त्र में वर्जित है और प्रसाद के नाटकों में युद्ध ही युद्ध है। हत्याएँ, आत्महत्याएँ। यह सब रसभंग तथा गर्हित है। हाँ, प्रसाद के नाटकों की तब ऐसी ही व्याख्याएँ होती थीं (इन पंक्तियों का लेखक ऐसी व्याख्याओं का भुक्तभोगी रहा है। अब भी क्लासरूम के प्रवक्ता ऐसी ही व्याख्याएँ कर रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं!) डी.लिट् की उपाधि के लिए प्रसाद के नाटकों की ऐसी ही शास्त्रीय व्याख्याएँ की जाती थीं।' प्रसाद के नाटकों के संबंध में ऐसा भ्रमजाल काफी हद तक आज भी बना हुआ है।

प्रसाद ने छोटे-बड़े आठ नाटक लिखे थे। उनकी मंचीयता, भावबोध, जीवन-दर्शन, चरित्रांकन तथा संदेश आज भी विशद आकलन की माँग करते हैं। किसी पी-एच.डी. अथवा डी.लिट् उपाधि के लिए नहीं, बल्कि उनकी अपरिचित मंचीय संभावनाओं को

उजागर करने के लिए। प्रसाद के नाटक शेक्सपियर के नाटकों से अधिक दुरूह हैं अथवा कालिदास के नाटकों से? जूलियस सीज़र में सीज़र की हत्या के बाद एंटोनी का भाषण कितना लंबा है। पर वही उसके सबसे प्रभावोत्पादक दृश्यों में से एक है। उसकी भाषा, उसका मनोविज्ञान सभी कुछ अभिनेता तथा निर्देशक को लिए बहुत बड़ी चुनौती है। प्रसाद के नाटकों के ऐसे अंश भी बड़ी चुनौतियाँ हैं और उन्हीं से उनकी अपार नाटकीय संभावनाओं के भंडार का पता चलता है। और कुछ नहीं तो केवल 'चंद्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के स्वगत कथनों को एकत्र कर विश्लेषित किया जाय तो जीवन के संबंध में प्रसाद के विराट 'विज़न' का पता चलता है। मंचीय दृष्टि तथा अभिनय की दृष्टि से उनमें अंतर्निहित आवेगों, आवेशों, भाव, विभाव, संचारी भावों के अद्‌भुत उन्मेष तथा उनके नाटकीय संयोजन का भी। यहाँ उद्धरण देने का अवकाश नहीं है वरना पता चलेगा कि चंद्रगुप्त व चाणक्य के ऐसे कथन हैमलेट के विश्वविख्यात 'टू बी ऑर नॉट टू बी' अथवा ओथेलों के 'पुट आउट दी लाइट ऐंड देन पुट आउट दी लाइट' से कम अर्थगर्भित नहीं है।

प्रसाद के सभी नाटक स्वतंत्रता से एक दशक पूर्व लिखे गए थे यानी 1920 तथा 1937 के बीच। उनके इन तथाकथित ऐतिहासिक नाटकों में परतंत्रता बोध की समकालीन अंतर्ध्वनियाँ और उसके त्रास के विकल कर देने वाले उद्‌घोष कितने क्रांतिकारी हैं, यह उनको 'गड़े मुर्दे उखाड़ने वाला' कहने वाले कभी नहीं समझ सकेंगे। इस संदर्भ में भी उनके नाटकों की वास्तविक व्याख्या अभी होनी है और यह व्याख्या भी उनका मंचन ही करेगा, उसके निर्देशक और अभिनेता-अभिनेत्रियाँ ही।

'मुक्ति' और 'स्वतंत्रता' प्रसाद के नाटकों के केंद्रीय शब्द हैं, बल्कि बहुत हद तक उनकी 'थीम' से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक संदर्भ में तो वहाँ यह मुक्ति कभी हूणों, शकों अथवा शासकीय कुशासन-अत्याचार और भ्रष्टाचार आदि से है, किन्तु आज के संदर्भ में उनके इस ऐतिहासिक आवरण को हटाकर देखें तो अंग्रेजों के शासनकाल में इस 'मुक्ति' की छटपटाहट, मुक्ति के लिए संघर्ष, विदेशी आक्रमणों की बर्बरता के प्रति प्रतिरोध आदि के नए अर्थ खुलते नज़र आएँगे और वे एक प्रच्छन्न नाटकीय 'डिवाइस' के रूप में दिखाई पड़ेंगे। भयानक सेंसर तथा दमन के बीच अक्सर कलाकारों तथा साहित्यकारों को ऐसे 'डिवाइसेज़' का सहारा लेना पड़ता है। यह हम अधिक आधुनिक रूप में काफ़्का के उपन्यासों और पिकासो के चित्रों में देख चुके हैं, जहां नाज़ी फ़ौजी अफ़सर द्वारा 'गुयेर्निका' को लक्ष्य कर पिकासो से यह पूछे जाने पर कि 'यू डिड इट?' पिकासो उत्तर देता है, 'नो, यू डिड इट?' प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के गुस्सैल क्रांतिकारी युवा पात्रों का गुस्सा आख़िर किसके प्रति है। चंद्रगुप्त नाटक के प्रारंभ में ही तक्षशिला के देशद्रोही राजकुमार आम्भीक तथा मालव युवक सिंहरण के बीच जब द्वंद्वयुद्ध की नौबत आ

जाती है और आम्भीक गुस्से में तलवार खींच लेता है तो चाणक्य बीच-बचाव करते हुए कहता है कि तलवार के लिए 'शेष' में (म्यान में) स्थान नहीं है क्या? उत्तर में सिंहरण व्यंग्य और तिरस्कार से कहता है कि 'शेष' (ख़जाना) तो पहले ही विदेशी आक्रमणकारियों के उत्कोच के सुवर्ण से भर चुका है। यहाँ 'शेष' का द्विअर्थक प्रयोग केवल श्लेष के चमत्कार के लिए नहीं किया गया है, बल्कि एक युवा देशप्रेमी का अकृत्रिम आवेश घृणा से व्यथित होकर बोल रहा है। नाटक की इस प्रारंभिक प्रेरक उक्ति के समानांतर शेक्सपियर के ओथेलो की उक्ति सहज ही स्मरण हो आती है : 'कीप अप योर ब्राइट सोर्ड्स, फॉर द डियू विल रस्ट देम।'

प्रसाद के नाटकों में ऐसे आवेगपूर्ण उक्तियों से गर्भित नाटकीय संवाद भरे पड़े हैं, जिनमें कोई भी समर्थ तथा प्रतिभासम्पन्न अभिनेता अपनी वाणी तथा मुद्राओं से अपूर्व प्रभावात्मकता भर सकता है।

ऐतिहासिकता की समकालीनता ऐसे ही संदर्भों में उद्घाटित होती है और प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की समकालीनता का विधिवत विश्लेषण होना अभी शेष है।

उनके नाटकों को हम एक तरह से 'काव्य' और 'गद्य' का संगम कह सकते हैं। इनमें बीच-बीच में आने वाले 'गीत' तो महत्वपूर्ण हैं ही, उनके गद्य संवादों में भी कम कवित्व नहीं है। वस्तुतः नाट्य भाषा की प्रकृति में ही कवित्व अविभाज्य रूप से अंतर्निहित होता है। यह विशेषता प्रसाद के नाटकों से लेकर 'अंधायुग' तक की भाषा में देखी जा सकती है। मोहन राकेश के नाटकों में यदि 'आषाढ़ का एक दिन' सर्वश्रेष्ठ है तो इसलिए भी कि उसकी भाषा में यह नाटकीय कवित्व गुण है और जो उनके तथाकथित यथार्थवादी नाटक '**आधे-अधूरे**' की भाषा में नहीं है।

प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त 'गीत' महज अलंकरण अथवा अवांतर प्रसंग मात्र नहीं है। वे उनके चरित्रों की भावगत विशेषताओं तथा बहुधा वस्तुगत स्थितियों की भी संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं जो उनके नाटकीय क्रिया-व्यापार को अधिक आवेगशील बनाकर, उनकी संप्रेषण क्षमता में भी वृद्धि करती हैं। प्रसाद के पात्र यदि एक ओर चिन्तनशील तथा दार्शनिक प्रकृति के हैं तो दूसरी और अत्यधिक भावप्रवण। अतः यदि अलका, मालविका तथा सुहासिनी जैसे पात्रों के मुँह से भावोच्छवास में गीत नहीं निकलेंगे तो और किसके कंठ से फूटेंगे? ये गीत नाटक के प्रवाह में बाधा नहीं डालते, बल्कि उसे तीव्रतर करते हैं।

'स्कंदगुप्त' नाटक की पहली पंक्ति है 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन होता है।' यह स्वयं स्कंदगुप्त अनुभव करता है और नाटक के अंत में देवसेना गाती है, 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर/ मैंने निज दुर्बल पद बल से,

उससे हारी होड़ लगाई/आह, वेदना मिली विदाई।' गौर करें तो नाटक की पहली पंक्ति और इस अंतिम गीत में एक आंतरिक एकसूत्रता है जो प्रसाद के जीवन-दर्शन तथा 'विज़न' को तो व्यक्त करता ही है, पूरे नाटक की संरचना में एक अद्‌भुत विद्युत प्रवाह भी उत्पन्न करता है। 'मादक' तथा 'सारहीन' दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं, किन्तु यहाँ साथ-साथ प्रयुक्त होकर जीवन की एक गहरी वास्तविकता को व्यक्त करते हैं। स्थूल भौतिकता तथा भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति प्रसाद के नाटकों में एक गहरी विरक्ति है। चंद्रगुप्त नाटक में चंद्रगुप्त को भारत का एकछत्र सम्राट बना देने के बाद कूटनीतिज्ञ चाणक्य को भी 'भूमा के सुख' के सम्मुख भौतिक सुविधाएँ 'चमकीले नश्वर पदार्थ' ही प्रतीत होती है। जीवन की यह उच्चतर वास्तविकता प्रसाद के सभी नाटकों का केंद्रीय बोध है। इस विराट ब्रम्हांड में मनुष्य का क्षुद्र अस्तित्व काल से कैसे 'होड़' लगा सकता है। लगाने की कोशिश करेगा तो वह 'हारी होड़' ही होगी। 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर, प्रलय चल रहा अपने पथ पर' वाली काव्यात्मक पंक्ति की अर्थगर्भिता को किसी गद्य संवाद मे 'रिड्यूस' नहीं किया जा सकता। तब उसकी समस्त प्रभावात्मकता ही तिरोहित हो जाएगी। 'अधिकार सुख इसलिए भी सारहीन है कि अंततः उसकी परिणति इस 'हारी होड़' में ही होगी। स्कंदगुप्त के सम्राट हो जाने पर देवसेना स्कंदगुप्त को प्राप्त करने की आकांक्षा से भी मुक्त हो जाती है। स्कंदगुप्त जब उससे विवाह का प्रस्ताव करता है तो वह कहती है अब तो बिलकुल ही नहीं। यानी तब उसका परिणय सम्राट स्कंदगुप्त से होगा, व्यक्ति स्कंदगुप्त से नहीं। 'प्राप्ति' के प्रति यह 'निषेध' प्रसाद के संपूर्ण साहित्य में है। उनकी 'प्राप्य' तथा 'महत्' की अवधारणा ही सर्वथा पृथक है। चाहें तो इसे ही उनकी 'भारतीयता की अवधारणा' भी मान सकते हैं। इसे महज़ छायावादी रोमांस कह कर खारिज़ नहीं किया जा सकता।

नाट्य-भाषा मे काव्यात्मकता प्रसाद को अपने रचनात्मक भावबोध से स्वतः प्राप्त हुई है। शुद्ध गद्य जहाँ नाटकीयता उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, काव्यात्मकता इस अपर्याप्त की पूर्ति करती है। नाट्य भाषा में मुख्यतः संवादों में एक बिन्दु ऐसा आता है, जहाँ 'गद्य' और 'काव्य' की सीमाएँ एक दूसरे में घुल-मिल जाती हैं। वहाँ पात्र 'गद्य' या 'कविता' की भाषा में नहीं बोलते, वे केवल उस स्थिति विशेष में बोलते और बातें करते हैं, बिना अपने या दर्शक को उसके प्रति पृथक से सचेत कराए हुए। इससे संप्रेषणीयता में कोई आघात या झटका नहीं लगता। यदि ऐसा होता है तो इसे नाट्य-भाषा की विफलता ही समझना चाहिए। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पर्वतेश्वर (पोरस) का अपनी भागती हुई सेना को संबोधन प्रायः काव्यात्मक है, किन्तु उससे कविता का नहीं एक हताशा में ओज और उत्साह उत्पन्न करने वाला प्रभावशाली स्वर ही सुनाई पड़ता है जो उस स्थिति-विशेष में अभीष्ट है।

प्रसाद की नाट्य-भाषा उक्तियों तथा सूक्तियों से संकुल भाषा है (शेक्सपियर के नाटकों की भाषा में भी यही विशेषता देखी जा सकती है) जिसमें जीवन का भेद खोलने वाली गहरी दार्शनिकता भी है और व्यावहारिक जीवन का मर्म भी। जैसे चंद्रगुप्त नाटक के ऐसे कथन : 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है। जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते हैं।' 'चाणक्य की नीति - 'लता अंधकार में ही लहलहाती है।' अथवा 'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।'

चंद्रगुप्त नाटक मे ही महर्षि दांडायन से सिकंदर की एक काल्पनिक मुलाकात में जब सिकंदर उनसे अपने विश्व विजय के अभियान की सफलता के लिए आशीर्वाद माँगता है तो वे उसकी इस निरर्थक तथा खोखली महत्वाकांक्षा का उपहास करते हए जो बातें उससे कहते हैं वे भारतीय जीवन दृष्टि की अनुपम व्याख्या है। प्रसाद की इस भारतीयता की अवधारणा में तब भी और अब भी कुछ लोगों को ब्राह्मणवाद और हिन्दूवाद की बू आती है और हमारी 'प्रगतिशील जीवन दृष्टि उसे सांप्रदायिक खाते में डालने से भी नहीं चूकती, किन्तु तब के संदर्भ में यह राष्ट्र-भावना जाग्रत करने वाली जीवन दृष्टि कितनी अपरिहार्य थी, इसे तब के राष्ट्र मुक्ति के आंदोलनों से संयुक्त करके देखना चाहिए।

इस संदर्भ में प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक ही नहीं, एक बड़े गहरे अर्थ में राजनैतिक नाटक हैं जो प्रच्छन्न रूप से साहित्यिक स्तर पर वही भूमिका निभा रहे थे जो राजनैतिक स्तर पर राष्ट्र मुक्ति के आंदोलन। यह आकस्मिक नहीं था कि तिलक तथा गाँधी दोनों ने भगवतगीता को अपने संघर्ष का आधार बनाया था, जिसमें 'कर्म' तथा 'अनासक्ति' की विशद व्याख्याएँ की गई हैं। पूरा गाँधीवादी आंदोलन अनेकानेक गीतों-भजनों तथा लयात्मक नारों से गुँथा हुआ था। इस संदर्भ में यदि हम प्रसाद के 'प्रशस्त पुण्य पंथ हैं, बढ़े चलो...' और 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' आदि गीतों की व्याख्या करें तो उनकी वास्तविक भूमिका समझ में आएगी तथा उन्हें 'सांप्रदायिक' अथवा 'हिन्दूवादी' मानना असंगत लगेगा। यदि निराला का यह लिखना कि 'पश्चिम' की उक्ति नहीं गीता है, गीता है।' सांप्रदायिकता या हिन्दूवादी नहीं माना गया तो प्रसाद के नाटकों के ये गीत तथा सूक्तियाँ क्यों सांप्रदायिकता के खाते में डाल दी जाएँ? ये सभी प्रश्न प्रसाद के नाटकों की पुनर्व्याख्याएँ माँगते हैं, बल्कि नए संदर्भ में पुनर्प्रस्तुतियाँ भी।

आज कोई चाहे तो 'ध्रुवस्वामिनी' को आज के 'नारीवादी' (फ़ेमिनिस्ट) आंदोलनों के आलोक में प्रस्तुत कर सकता है, हालाँकि तब भी छायावादी (अथवा स्वच्छंदतावादी) भावबोध मे ही नारी मुक्ति एक केंद्रीय मुद्दा था जो छायावादी काव्य में ही नहीं, महादेवी वर्मा की गद्य रचना 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में भी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त हुआ था। 'ध्रुवस्वामिनी' में तो प्रसाद ने तब की सामाजिक संरचना के अनुकूल शास्त्र-सम्मत ढंग से 'क्लीव' पति के स्थान पर पौरुषयुक्त पति के वरण का औचित्य सिद्ध किया था।

ध्रुवस्वामिनी इस अभियान का नेतृत्व करने वाली पहली नारी है और हिंदी साहित्य की पहली 'फ़ेमिनिस्ट' नारी चरित्र।

इस दृष्टि से देखें तो प्रसाद अपने प्रत्येक नाटक में बड़े सुव्यवस्थित ढंग से एक निश्चित जीवन दर्शन की स्थापना करते चलते हैं जिसमें व्यंजनात्मक विविधता है : 'चंद्रगुप्त' के परम कूटनीतिज्ञ तथा अति कठोर चरित्र 'चाणक्य' से कितना भिन्न-बल्कि एक हद तक सर्वथा विपरीत है 'स्कंदगुप्त' का स्कंदगुप्त, उसमें महत्वाकांक्षा और ऐश्वर्य लिप्सा लेशमात्र भी नहीं है, केवल जीवन की प्रवंचना तथा सारहीनता का बोध है। उसमें भी 'हैमलेट' की तरह एक 'डायलेमा' है किन्तु वह 'हैमलेट' से भिन्न भारतीय भावभूमि पर आधारित है। उसे 'हैमलेट' की तरह मृत पिता का भूत नही सताता, केवल एक गुरू दायित्व का बोध उसे कभी-कभी बेहद बोझिल लगने लगता है। 'सारहीनता' का बोध 'हैमलेट' को भी है, तभी वह यह पूछे जाने पर कि 'क्या पढ़ रहे हो?' उत्तर देता है 'वर्डस, वर्डस, वर्डस।' डेनमार्क के राज्य में भी सब कुछ ठीक-ठाक नही है और स्कंदगुप्त के भारत में भी नहीं। दोनों षड्यंत्रों तथा कुचक्रों से जर्जर हैं। स्कंदगुप्त की सौतेली माँ भी कामवासना से ग्रस्त एक स्वैरिणी स्त्री है जैसे हैमलेट की माँ। इन समानताओं के बावजूद 'हैमलेट' तथा 'स्कंदगुप्त' इन स्थितियों का सामना अपने-अपने ढंग से करते हैं।

वस्तुतः किसी भी समय लिखे गए नाटकों का ठीक-ठीक अध्ययन या विश्लेषण उस समय की मंचीय पद्धतियों और प्रविधियों के संदर्भ में ही किया जा सकता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद के नाटकों के लिए मंचन की संभावनाएँ अब अधिक हैं, बजाय उस समय के जब वे लिखे गए थे। 'संकलनत्रयी' की समस्याएँ तभी थीं जब स्थान, काल और परिवेश में उन वस्तुओं की उपस्थिति अनिवार्य लगती थी, जिनका नाटक में उल्लेख हुआ करता था। अब तो अमूर्तन की प्रविधि से वस्तुओं-और कभी-कभी व्यक्तियों की भी, प्रतीकात्मक या संकेतात्मक उपस्थिति संप्रेषण अथवा प्रभावात्मकता के लिए पर्याप्त होने लगी है, उसमें वनपथ, गिरिपथ, पर्वत, उपत्यका, निर्झर या सरोवर का स्थूल रूप में अथवा यवनिका पर चित्रित रूप में होना भी आवश्यक नही रह गया है। यद्यपि ब.व. कारंत जैसे प्रख्यात तथा प्रसाद को नाटकों के विशेषज्ञ निर्देशक ने चंद्रगुप्त और स्कंदगुप्त आदि में भव्य सेट्स, साज-सज्जा, वेशभूषा तथा अस्त्र-शस्त्रों का भी प्रचुर उपयोग किया है किन्तु संभवतः कोई नाट्य निर्देशक चाहे तो इनके बिना भी उनका सफल मंचन कर सकता है।

नाटक एक 'व्यावहारिक कला' है किन्तु उसे साहित्य से सर्वथा पृथक विधा मानकर मात्र व्यावहारिक प्रस्तुति के रूप में नहीं देखा जा सकता। टी.एस. एलियट और रैमंड विलियम्स जैसे नाट्य समीक्षक भी उसे साहित्य के अंतर्गत ही रखकर देखने के समर्थक हैं। प्रसाद के नाटक उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ भी हैं, जैसे कैम्यू का 'कैलिगुला' और

सार्त्र का 'प्रिज़नर ऑफ़ ऐलटोना'। वे शुद्ध साहित्यिक रचना के रूप में भी 'पाठ' और विश्लेषण की माँग करती है, बल्कि इस 'आधार' के बिना उनका सफल या सार्थक मंचन भी संभव नहीं होता। इन दोनों नाटकों में अंतर्निहित अस्तित्ववादी दर्शन को समझे बिना कोई नाट्य निर्देशक उन्हें पूरी प्रभावात्मकता के साथ मंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसी प्रकार प्रसाद के नाटकों में सर्वत्र व्याप्त एक सुनिश्चित जीवन दर्शन को बिना समझे उनका मंचन असंभव है, बल्कि उनके नाटकों की संप्रेषणीयता में उनमें अनुस्यूत जीवन-दर्शन की सप्रेषणीयता भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। जिस सीमा तक वह जीवन दर्शन संप्रेषित होगा, उसी सीमा तक नाटक का संपूर्ण प्रभाव भी।

प्रसाद के नाटक प्रकृतिवादी नहीं है, और न प्रचलित अर्थ में यथार्थवादी ही। किन्तु वे 'स्वैर कल्पनाएँ (फ़ैंटेसी) नहीं है, जैसी उनके समकालिक छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्सना'। वे बहुत दूर तक तब के राजनैतिक वस्तुगत यथार्थ पर आधारित हैं। प्रसाद के नाटक कोई 'इतिहास दर्शन' नही देते, जीवन दर्शन देते हैं।

जब तक प्रसाद के नाटकों की विशेष भाषा (चाहें तो उसे 'ड्रैमेटिक डिक्शन' कह लें) और उसके माध्यम से व्यक्त भावबोध को संयुक्त कर उनके 'विज़न' को प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया जाएगा, तब तक उनके नाटक (और उनका मंचन) दुरूह तथा दूरारूढ़ ही प्रतीत होंगे।

4. निर्देशक की पहल
शांता गाँधी

स्कंदगुप्त : प्रदर्शन संबंधी कुछ विचार

आधुनिक हिंदी रंगमंच की शीघ्र उन्नति के मार्ग में एक बड़ी बाधा है : ऐसे अच्छे मौलिक नाटकों का अभाव जिनकी जड़ें हिंदीभाषी जनता के जीवन में हों। स्वाधीनता के बाद से रंगमंच के लिए दिनोंदिन बढ़ते हुए उत्साह के कारण अपेक्षाकृत अधिक संख्या में नाटक निरंतर लिखे जा रहे हैं। किन्तु एक-दो अपवादों को छोड़कर वे प्रायः दर्शकवर्ग के गहरे आंतरिक संस्कारों को छूने में सफल नहीं होते। साथ ही उनमें वे उच्च रंगमंचीय और साहित्यिक गुण भी नहीं होते, केवल जिनके द्वारा ही एक नियमित हिंदी रंगमंच की स्थापना और उसका निरंतर विकास हो सकता है।

हिंदी रंगमंच के विकास की इस विशेष अवस्था में जयशंकर प्रसाद के नाटक बहुत ही सहायक हो सकते हैं। उनके नाटकों में विविध प्रकार के बेशुमार सुंदर चरित्र हैं जो नये अभिनेताओं के लिए प्रेरणादायक चुनौती भी बन सकते हैं और उनकी क्षमता को अधिक व्यापक बना सकते हैं। भारतीय जीवनदृष्टि के अनुरूप उनके नाटकों का समृद्ध नाट्यतत्व दर्शकवर्ग को रुचिकर भी होगा और उसके मानसिक क्षितिज का विस्तार भी करेगा। उनके नाटकों का साहित्यिक महत्व और उनकी विषयवस्तु की सार्वभौमिकता असंदिग्ध है। फिर क्या कारण है कि आधुनिक हिंदी निर्देशक उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करते झिझकता है? शायद एक कारण यह है कि उनकी अभिनेयता के बारे में लोगों को संदेह है। पर क्या यह संदेह उचित है? अथवा, क्या मूल नाटकों में थोड़ा-बहुत सामान्य परिवर्तन करके उनकी प्रदर्शन संबंधी समस्याओं को सुलझाना संभव है? उदाहरण के लिए 'स्कंदगुप्त' को लीजिए जो कई दृष्टियों से उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है।

नाटक का संक्षिप्तीकरण : 'स्कंदगप्त' पाँच-अंकी नाटक है जिसमें पच्चीस पुरुष और दस-स्त्री पात्र हैं। एक औसत अव्यवसायी मंडली के लिए पात्रों की इतनी बड़ी संख्या एक बड़ी भारी बाधा बन सकती है। इसके अतिरिक्त पूरे नाटक की अवधि कम से कम चार-साढ़े चार घंटे होगी जो आधुनिक दर्शक वर्ग के लिए बहुत अधिक है। इसलिए स्पष्ट

है कि आधुनिक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के पहले इस नाटक को छोटा करना बहुत आवश्यक है। लगता है कि उसको करीब-करीब आधा काट देना आवश्यक होगा। किन्तु क्या इतने अधिक संक्षिप्तीकरण से नाटक का सार भाग इतना नष्ट-भ्रष्ट न हो जाएगा कि वह आधुनिक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के योग्य ही न रहे? मेरे विचार में यदि उसकी मूलभूत समकालीन सार्थकता को सुरक्षित रखा जाए तो ऐसा होना अनिवार्य नहीं है।

किसी क्लासिक नाटक को प्रस्तुत करते समय उसके किस विशेष तत्व पर बल दिया जाए, यह प्रत्येक युग, बल्कि प्रत्येक दशाब्दी में बदलता रहता है। आज इस नाटक को प्रस्तुत करते समय मैं दो बातों पर जोर देना चाहूंगी : एक तो गुप्तयुग के अंतिम चरण की भाँति ही आज हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि प्रसाद के स्कंदगुप्त जैसा ही कोई नेता सामने आए, जिसके व्यक्तित्व में अदम्य साहस, योग्यता और 'अधिकार-सुख के नशे' के प्रति उदासीनता जैसे असामान्य गुणों का समन्वय हो—कोई ऐसा कर्मयोगी जो एकता की शक्ति को जागृत कर सके और राष्ट्रीय विघटन को रोक सके। दूसरे, जो व्यक्ति सफलतापूर्वक अपने युग की चुनौती का सामना करता है वह अनिवार्य और आवश्यक रूप से ऐसी ऊँचाई पर पहुँच जाता है जहाँ उस वातावरण में उसके सहयोगी नहीं टिक पाते। इसलिए ऐसे व्यक्ति को अपने निजी जीवन में सुखद अकेलेपन को स्वीकार करना पड़ता है। ठीक वैसे ही जैसे स्कंदगुप्त अपना उद्देश्य पूरा होने के बाद उसे सहज ही स्वीकार कर लेता है।

निर्देशक इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह चाहे जिस बात पर बल दे। पर वह जो भी हो, यदि वह नाटक को समझकर संक्षिप्त करेगा तो अवश्य ही उसके आत्यंतिक नाटकीय प्रभाव को नष्ट किए बिना ही उसकी अवधि और पात्रों तथा दृश्यों की संख्या को कम कर सकेगा। निस्संदेह यह संभावना भी है कि कोई निर्देशक कुछ सतही व्यावहारिक बातों से घबड़ाकर, भली भाँति सोचे-समझे और विषयवस्तु को संवेदनशीलतापूर्वक ध्यान में रखे बिना ही, इस नाटक को संक्षिप्त कर डाले। उदाहरण के लिए, अभिनेत्रियाँ मिलने की कठिनाई के कारण कोई निर्देशक गौण स्त्री पात्रों को काट दे, और इस बात को न समझे कि ये पात्र ही उस युग के उस नैतिक-सैद्धांतिक संघर्ष की तीव्रता उद्घाटित करने के सबसे प्रभावशाली साधन हैं जिसने पारिवारिक जीवन को भी स्पर्श किया था—जब माँ-बाप अथवा पति-पत्नी जैसे परस्पर घनिष्ठ व्यक्ति भी जीवन के सामान्य मूल्यों में साझीदार नहीं रह गए थे। इस खतरे से बचने का एक उपाय यह है कि स्त्री पात्रों की संख्या कम करने में अर्थोपक्षेप जैसी प्राचीन युक्ति के किसी संशोधित प्रकार का सहारा लिया जाए।

कार्यमूलक दृश्यबंध बनाने की समस्या भी इस नाटक को यांत्रिक ढंग से काटने को प्रेरित कर सकती है। इस नाटक के पहले, दूसरे और चौथे अंकों में से प्रत्येक में सात दृश्य हैं, और तीसरे तथा पाँचवें अंक में से प्रत्येक में छः दृश्य। इनमें से प्रत्येक दृश्य का नाटकीय स्थल भिन्न है। नाटक का कार्यव्यापार दृश्य बदलते ही सैकड़ों मील दूर पहुँच जाता है, जैसा कि स्थल परिवर्तन की निम्न तालिका से स्पष्ट होगा :

स्थल परिवर्तन तालिका

अंक	1	2	3	4	5
दृश्य					
1.	गुप्त स्कंधावार (उज्जयिनी)	क्षिप्रा तट पर कुंज (मालव)	क्षिप्रा तट (मालव)	मगध के राजमहल का प्रकोष्ठ	पथ
2.	मगध का राज-महल (कुसुमपुर)	प्रपंचबुद्धि का मठ (मगध)	श्मशान (अवंती)	शिविर	समाधि (कनिष्क स्तूप के पास)
3.	पथ (कुसुमपुर मगध)	देवकी का महल (कुसुमपुर-मगध)	राजमहल (मगध)	न्यायाधिकरण (कश्मीर)	कनिष्क स्तूप
4.	अंतःपुर (कुसुमपुर)	बंदीगृह (कुसुमपुर)	उपवन (अवंती)	(नगर प्रांत)	विहार
5.	अंतःपुर का द्वार (मगध)	अवंती दुर्ग	रणक्षेत्र (गांधार)	विहार के पास चतुष्पथ	रणक्षेत्र
6.	पथ (नगर-प्रांत)	अवंती पथ	रणक्षेत्र	पथ (नगर प्रांत)	उद्यान
7.	अवंती दुर्ग	अवंती राजसभा	–	-कुटी	–

कार्यव्यापार की निरंतरता की दृष्टि से प्रचलित यथार्थवादी दृश्यबंधों का अभ्यस्त निर्देशक इस नाटक को फार्मूले के अनुसार, अर्थात् यदि समूचे ही नाटक के लिए एक स्थल नहीं तो कम से कम एक अंक के लिए, एक नाटकीय स्थल प्रस्तुत करने की बात सोच सकता है। किंतु ऐसा प्रयास अनुचित होगा क्योंकि इस नाटक में नाटकीय स्थलों की यह विविधता उसकी कथावस्तु के साथ बुनियादी तौर पर जुड़ी हुई है। दूर-दूर तक फैले हुए गुप्त साम्राज्य के आसन्न विघटन की पृष्ठभूमि में ही स्कंदगुप्त का वास्तविक महत्व उभरकर सामने आता है। किसी कर्मयोगी को उसकी कर्मभूमि के संदर्भ में ही परखा जा सकता है। इसलिए दृश्यबंध की इस व्यावहारिक समस्या का कोई दूसरा हल ढूँढ़ना आवश्यक है।

इस भाँति इस नाटक की निर्देशन संबंधी सबसे महत्वपूर्ण समस्या इसको काटने और संपादित करने की है। इस पर ही अन्य शिल्पगत समस्याओं के समाधान निर्भर करते हैं–ऐसे समाधान जो इस नाटक की भावना तथा उसके प्रदर्शन की शैली के अनुरूप हों।

प्रदर्शन की शैली : किसी भी नाटक के प्रदर्शन की शैली मुख्यतः उसके लेखन की शैली पर उसके नाटकीय रूपबंध पर, निर्भर करती है। प्रसाद में प्राचीन भारतीय रंगमंच की परंपरा तथा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित पश्चिमी रंगमंच की रूढ़ियों का बड़ा सुखद समन्वय मिलता है। एक प्रकार से यह समन्वय आधुनिक दर्शक के जीवन के मूलभूत यथार्थ को भी सूचित करता है, यद्यपि वास्तविक जीवन में वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए शायद उतना ही सुखद न हो।

इस नाटक में वीररस को प्रधान रस रखा है और साथ ही बाकी अन्य मुख्य रसों को गौण रसों के रूप में प्रयोग करके उसे पुष्ट किया है। इस उपलब्धि के लिए उन्होंने न केवल कथावस्तु तथा चरित्रचित्रण के प्राचीन भारतीय सिद्धांतों का सहारा लिया है, बल्कि संघर्ष और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले नाटकीय कार्यव्यापार के सिद्धांत का भी सहारा लिया है। इस नाटक का सामान्य ढाँचा पारसी थिएटर तथा उसके रँगे हुए लिपटवाँ परदों को ध्यान में रखकर बना है। किसी विशेष दृश्य का अंत सारे पात्रों के प्रस्थान से होगा अथवा किसी झाँकी द्वारा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह विशेष दृश्य मंच के पिछले, अगले अथवा बीच के भाग में से कहाँ होनेवाला है। प्रसाद की कला में नाटकीय संवाद भी पूर्वी-पश्चिमी समन्वय से बहुत अधिक प्रभावित हैं। इस नाटक के संक्षिप्तीकरण में इस बात का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

उपलब्ध साधनों के महत्वपूर्ण प्रश्न के अतिरिक्त नाटक की रूपबंध संबंधी विशेषताओं का ज्ञान भी इसके प्रदर्शन की शैली निर्धारित करने में सहायक होगा। यह प्रदर्शन निश्चित रूप से यथार्थवादी नहीं हो सकता, न वह संस्कृत नाटकों की भाँति नाट्यधर्मी ही होगा। साथ ही प्रदर्शन की यह शैली ही इसमें अभिनय, दृश्यांकन, वेशभूषा, उपकरण, प्रकाशयोजना आदि की शैली निर्धारित करने में सहायक होगी।

वेशभूषा : इस नाटक का प्रदर्शन आज इसीलिए कोई करना चाहेगा क्योंकि इसमें समकालीन मूल्य मौजूद हैं। इसलिए इसके निर्देशक को अपने मन में बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए कि वह इन मूल्यों को किस प्रकार आधुनिक दर्शकवर्ग तक पहुँचाएगा। यह निर्णय करने के बाद ही उसको इस नाटक की वेशभूषा का अंकन करना चाहिए। एक उपाय तो यह है कि आधुनिक वेशभूषा का प्रयोग किया जाए। इससे खर्च कम होने के अतिरिक्त एक औसत अव्यवसायी दल के लिए अभिनय संबंधी समस्याएँ भी इतनी जटिल नहीं रहेंगी। विभिन्न पात्रों की सामाजिक स्थिति तथा व्यक्तिगत महत्व को प्रकट

करनेवाले वेशभूषा के आधुनिक उपकरणों का समझदारी से चुनाव करके प्रसाद तथा आधुनिक दर्शकवर्ग के बीच एक सीधी कड़ी जोड़ी जा सकती है। किंतु फिर भी युगानुरूप वेशभूषा में आधुनिक वेशभूषा की अपेक्षा एक महत्वपूर्ण सुविधा है। युगानुरूपता ऐसा सौंदर्यपरक व्यवधान उत्पन्न करता है जो स्कंदगुप्त जैसे क्लासिक नाटक के रसबोध में बहुत सहायक हो सकता है। किसी पात्र के वस्त्रों की रेखा और उनका कटाव तय करते समय गुप्तयुग की मूर्तिकला पर ध्यान देना चाहिए, जिसमें पर्याप्त विविधता मौजूद है। जो कपड़ा चुना जाए उसका ताना-बाना रंगमंचीय दृष्टि से प्रभावशाली तथा पात्र की गरिमा को बढ़ानेवाला होना चाहिए। रेशम और साटन इन प्राचीन पात्रों के लिए आवश्यक रूप से उपयुक्त नहीं है।

रंगयोजना का समग्र प्रभाव धूसर रंग में से उभरकर खिलते हुए नारंगी रंग का हो सकता है। अलग-अलग पात्रों को लिए उन रंगों को चुनना बेहतर होगा जो पात्रों द्वारा व्यक्त रस के अनुकूल हों। स्कंदगुप्त के लिए रंग धूसर और नारंगी होंगे, देवसेना के लिए फीका नीला और नांरगी, विजया को लिए धूसर रंग से घिरा हुआ लाल अथवा शायद काला होगा, इत्यादि। प्रत्येक दृश्य के लिए वेशभूषा बदलना आवश्यक नहीं है, चाहे उन दृश्यों के बीच स्थान और समय का कितना ही व्यवधान क्यों न हो। जब सर्वथा आवश्यक हो तब उत्तरीय जैसे किसी गौण उपकरण का परिवर्तन ही पर्याप्त होगा।

दृश्यबंध : आज के औसत भारतीय रंगमंच पर, जिसके पास चक्री मंच नहीं है, प्रसाद के नाटक अभिनेय मानने का एक कारण यह है कि उसमें दृश्यपरिवर्तन बहुत है। इससे दृश्यांकनकार का काम जटिल हो जाता है। साथ ही यह एक ऐसी चुनौती है जो किसी भी संवेदनशील दृश्यांकनकार की कल्पनाशक्ति को जागृत और प्रेरित करेगी और नाटक की मूल वस्तु के प्रति उसकी संवेदनशीलता की परख प्रस्तुत करेगी।

सबसे पहली बात तो यह है कि यथार्थवादी संदूकिया दृश्यबंध बनाने का विचार बिलकुल छोड़ देना चाहिए। इस नाटक को लिखते समय प्रसाद ने नाटकीय स्थलों के जल्दी-जल्दी परिवर्तन के लिए संभवतः लिपटवाँ परदों के ऊपर यथार्थवादी ढंग से चित्रित दृश्यों की कल्पना की होगी। आज पुराने लिपटवाँ परदों का व्यवहार आधुनिक दर्शकवर्ग को बहुत अच्छा न लगेगा। किंतु फिर समस्या उठती है कि नाटकीय कार्यव्यापार के प्रवाह में बाधा डाले बिना इन विभिन्न नाटकीय स्थलों को किस तरह से स्थापित किया जाए? इसका एक उत्तर हो सकता है–विभिन्न धरातलोंवाले 'यूनिट' दृश्यबंध का एक परिवर्तित रूप। इसमें चबूतरों, सीढ़ियों और ढलानों का आकार, रूप तथा उनका लगाने का क्रम ऐसा होना चाहिए जो एकदम कोणीयता का प्रभाव तो पैदा करे, किंतु साथ ही सौंदर्यबोध की दृष्टि से अप्रिय न हो। इस सिद्धांत को आधार बनाकर प्राचीन संस्कृत तथा अर्वाचीन पारसी मंच पर प्रयोग में आनेवाली रूढ़ियों में और भी परिवर्तन सोचे जा सकते हैं। किंतु

वे सब परिवर्तन चुनी हुई शैली से इस तरह समंजित होने चाहिए कि समूचे नाटक का एक संयुक्त प्रभाव पड़े। यदि नाटक का प्रदर्शन किसी एक बंद रंगभवन में होना है जिसमें दृश्यबंध के अलग-अलग खंडों को उठाने-उतारने की व्यवस्था है, तो उसका भी अवश्य ही उपयोग किया जा सकता है। बीच-बीच में आधे या चौथाई आकार के लिपटवाँ परदों का भी प्रयोग किया जा सकता है, जिनके ऊपर मोटी रेखाओं में कुछ अंकित हो अथवा कुछ भी अंकित न हो। इन परदों के उपयोग से दृश्य की रूपरेखा में समृद्धता और विविधता आ सकती है। पर यदि दृश्यखंडों को ऊपर उठाने-उतारने का प्रबंध न हो, तो मंच पर रखे हुए चबूतरों में किसी युक्ति से हल्की बल्लियाँ आसानी से लगाने और हटाने का उपाय करना चाहिए। यह कार्य स्वयं अभिनेता ही अपने नाटकीय कार्य-व्यापार के एक अंग के रूप में कर सकते हैं। सीमित साधनवाली अव्यवसायी नाटक मंडली के लिए यह अच्छा होगा कि वह ऐसे एक या दो प्रतीकात्मक उपकरण खंडों का सहारा ले जो आसानी से, और संभव हो तो स्वयं अभिनेताओं द्वारा, लाए-ले जाए जा सकें। स्थलपरिवर्तनों की तालिका का सावधानी से अध्ययन करने पर ऐसा कोई न कोई उपयुक्त उपकरण खंड अवश्य सूझ सकता है। यह खंड ऐसा होना चाहिए जो उस युग और उस स्थान का वास्तविक सार प्रतीक रूप में प्रस्तुत कर सके।

दृश्यांकनकार का कार्य इस बात से सरल हो जाता है कि इस नाटक में बहुत से दृश्य बाह्य हैं जिनको गगनिका की सहायता से प्रभावशाली बनाया जा सकता है। प्रामाणिक रूप में अंकित मंचीय उपकरण तथा हस्तोपकरण भी नाटकीय स्थलविशेष को स्थापित करने के लिए काम में लाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक का उचित रीति से संपादित रूप भी इस कार्य में सहायक होगा। यद्यपि प्रसाद के नाटकीय संवाद संस्कृत नाटकों की भांति स्थल के शब्दचित्र नहीं प्रस्तुत करते, फिर भी उनकी लेखनशैली में इस बात की बहुत गुंजाइश है कि स्थान का उल्लेख, विशेषकर जहाँ वह पहले से ही मौजूद न हो, किसी पात्र द्वारा किया जा सके।

जहाँ तक अंतरंग दृश्यों का प्रश्न है, उनमें से बहुतों को, नाटक के विशेष अवसर की नाटकीय आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, अर्ध-बाह्य दृश्यों में परिवर्तित किया जा सकता है। पहले तीन अंकों में सबसे महत्वपूर्ण नाटकीय स्थल मालवा या मगध में ही स्थित है। इनका प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण ऐसा उपयुक्त और साहसपूर्ण हो सकता है कि सहज ही उस पर ध्यान जाए। मालवा के विभिन्न भागों में स्थित नाटकीय स्थलों में कोई बुनियादी मालवी प्रतीक मौजूद रहना चाहिए। इसी प्रकार मगध के विभिन्न नाटकीय स्थलों में किसी मगध प्रतीक की उपस्थिति होनी चाहिए। इसमें जहाँ भी आवश्यक हो, कोई विशेष प्रतीक, जैसे छड़ोंदार चौखटा जो जेल को सूचित कर सके, अथवा

राजदरबार को सूचित करनेवाला सिंहासन, इत्यादि भी जोड़ा जा सकता है। किंतु किसी भी हालत में अभिनयक्षेत्र को बहुत सारे उपकरणों से नहीं भरना चाहिए।

प्रकाश योजना : नाटकीय स्थलों की समस्या को सुलझाने में दृश्यांकनकार के प्रयासों को उपलब्ध प्रकाशव्यवस्था संबंधी साधनों के निपुणतापूर्ण उपयोग से बहुत सहायता मिल सकती है। प्रकाशयोजना ऐसी होनी चाहिए जो निरंतर बदलती हुई मनोदशाओं को संप्रेषित करने में सहायक हो। इस नाटक में प्रकाश संबंधी तिकड़मों का प्रयोग करने की बड़ी गुंजाइश है, जैसेः डूबने के दृश्य, रत्नगृह का पता लगाने के दृश्य, इत्यादि में, यदि निर्देशक में सुरुचि और संयम न हो तो, इस बात की बहुत आशंका है कि निर्देशन बहुत ही फूहड़ स्तर पर उतर आए। प्रकाशयोजना ऐसी नहीं होनी चाहिए जो दर्शकवर्ग को नाटक की मूल भावना और उसकी कथावस्तु से हटाकर दूसरी अनावश्यक बातों की ओर बहका ले जाए।

प्रदर्शन के विभिन्न पक्षों को इस प्रकार एक ही चरम लक्ष्य पर संकेंद्रित करना चाहिए। वह है इस नाटक की गरिमा को पुष्ट करना। 'स्कंदगुप्त' में महाकाव्य जैसी गरिमा चाहे न हो, पर वह रोज़मर्रा की ज़िंदगी का ऐसा मामूली कारोबार भी नहीं है जिसे एक साधारण संकुचित ढाँचे में बिठाया जा सके। जो लोग आधुनिक हिंदी रंगमंच के लिए प्रसाद की देन की निहित संभावनाओं में विश्वास करते हैं, उनके लिए उसके प्रदर्शन की शिल्पगत समस्याएँ कोई भारी बाधाएँ नहीं बन सकतीं। प्रसाद के नाटकों की सभी समस्याओं को सुलझाकर उन्हें अत्यंत सफलतापूर्वक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है और उनका अवश्य ही प्रदर्शन होना चाहिए।

स्कंदगुप्त की प्रदर्शनीयता के सामान्य सूत्रों की चर्चा ऊपर की गई। हाल ही में (1968) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों के साथ मैंने उसे कलकत्ता में प्रस्तुत किया। इसलिए यह प्रश्न उठता ही है कि प्रस्तुतीकरण के बाद इस समस्या के बारे में अब मेरी राय क्या है।

जब प्रसाद के नाटकों की प्रदर्शनीयता के बारे में शंका प्रकट की जाती है तो आम तौर पर उसमें मुख्य सवाल यह होता है कि इन नाटकों के एक ही अंक में सैकड़ों मील दूर के स्थानों पर बार-बार बदलते हुए दृश्यस्थलों को कैसे दिखाया जाएगा। स्थान और काल की अन्वितियों के बारे में प्रसाद की उदासीनता पर अगर यथार्थवादी प्रस्तुति की दृष्टि से विचार करें तो प्रस्तोता का काम बहुत ही कठिन हो जाता है। 'स्कंदगुप्त' में दृश्यस्थलों के परिवर्तन का नाटक की विषयवस्तु के साथ गहरा संबंध है, पर उसकी यथार्थवादी प्रस्तुति आवश्यक नहीं है। कलकत्ता में अपनी प्रस्तुति के अनुभव से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि दृश्यस्थलों और विषयवस्तु के संबंध के महत्व को भलीभाँति उभारने लिए

इस नाटक को खाली मंच पर, किसी रूपवादी प्रतीकवादी दृश्यबंध के भी बिना, करना चाहिए।

किंतु फिर भी यदि प्रसाद को आधुनिक दर्शकवर्ग के और भी समीप लाना है तो उनके नाटकों में मौजूद कुछ अन्य समस्याओं को समझ के साथ सुलझाना बहुत ज़रूरी है। ये समस्याएँ कई प्रकार की हैं। एक, दर्शकवर्ग 'स्कंदगुप्त' की मूल कथावस्तु को आसानी से नहीं समझ पाता। कार्यव्यापार की गति सहज नहीं है। बहुत सी बातें जिन्हें प्रसाद मानकर ही चलते हैं, आज के हर दर्शक की समझ में ही नहीं आतीं। उदाहरण के लिए, सम्राट कुमारगुप्त की मृत्यु के बाद सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए जो संघर्ष हुआ, उसका मूल कारण यह था कि पिता की मृत्यु के बाद सबसे बड़े लड़के को ही सिंहासन मिलने का निश्चित नियम या परंपरा गुप्त साम्राज्य में नहीं थी। प्रसाद इस बात का संकेत नाटक के प्रारंभ में एक वाक्य में बड़ी सूक्ष्मतापूर्वक करते हैं। यह संवाद नाटक के एकदम प्रारंभ में होता है, जब तक दर्शक ठीक से अपने स्थानों में व्यवस्थित भी नहीं होते। और इस बात की पूरी संभावना रहती है कि वे इस महत्वपूर्ण वाक्य को ठीक से सुन भी न पाएँ। इसका नतीजा यह होता है कि बाद में जो घटित होता है उसे समझना और उसकी सार्थकता पहचानना कठिन हो जाता है।

दूसरे, इस नाटक में प्रसाद ने जो बहुत सारे चरित्र रचे हैं उनकी उपस्थिति की नाटकीय सार्थकता सदा अनिवार्य नहीं लगती। इनमें से प्रायः प्रत्येक चरित्र का अंकन बहुत अच्छा है, पर उनके भावों और आवेगों का नाटकीय कार्यव्यापार को सघन या गहरा करने में योग कम होता है, बल्कि अकसर उनकी उपस्थिति से कार्यव्यापार में रुकावट पड़ने लगती है, या अनावश्यक शिथिलता आने लगती है। गोविंदगुप्त, धातुसेन, रामा आदि चरित्र ऐसे ही हैं; वे अपने आपमें आकर्षक अवश्य हैं, पर मुख्य कथावस्तु के साथ उनका संबंध बहुत क्षीण है।

तीसरे, प्रसाद की अभिव्यंजनापूर्ण भाषा, अपनी सारी सुंदरता के बावजूद, उस औसत दर्शक की समझ में आसानी से नहीं आती जो इन नाटकों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से भी अकसर अपरिचित होता है। उनके बहुत से ऐतिहासिक और पौराणिक संकेत आधुनिक दर्शकों के मन में वे संदर्भ नहीं जगा पाते जो नाटककार चाहता था।

मगर क्या प्रसाद के नाटकों की ये विशेषताएँ उन्हें मंच के अनुपयुक्त बना देती हैं? मेरे विचार से ऐसा नहीं है, यद्यपि मैं यह अवश्य सोचती हूँ कि आधुनिक दर्शकों के लिए नाटकों के संबंध-सूत्रों को अधिक स्पष्ट करना, या जहाँ ये नाटकों में नहीं हैं वहाँ नए सूत्र जोड़ देना, ज़रूरी है। विघटित होते हुए गुप्त साम्राज्य की उलझी हुई परिस्थितियों में स्कंदगुप्त के महत्वपूर्ण स्थान को और भी स्पष्ट करने की ज़रूरत है, मुख्य चरित्रों के

पारस्परिक संबंधों को और भी निश्चित बनाने की ज़रूरत है। इसी प्रकार ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी और स्पष्ट होनी चाहिए, वज्रयानी बौद्धों और कटु धर्मांध हिंदुओं के संघर्ष और उनके स्वस्थतर मूल तत्वों के समन्वय को और भी उभारना ज़रूरी है। यह भी आवश्यक है कि कहानी की मूल रूपरेखा दर्शक की समझ में स्पष्ट आ जाए। इसके लिए नाट्य रूपांतर में और भी संशोधन तथा अर्थोपक्षेपकों की सूत्र जोड़नेवाली युक्तियों का सहारा लेना आवश्यक है।

इस नाटक के लिए मंडली में, विशेषकर स्कंदगुप्त की भूमिका करनेवाले अभिनेता में, ऊँचे दर्जे की अभिनयक्षमता भी बहुत आवश्यक है। जाहिर है कि ये सब कठिनाइयाँ ऐसी नही हैं जिन्हें दूर नहीं किया जा सकता। आवश्यक विश्वास, संकल्प और समुचित साधन हों तो इन सभी कठिनाइयों को दूर करके इस नाटक का सफलतापूर्वक प्रदर्शन किया जा सकता है–केवल कुछ चुने हुए समझदार दर्शकों के सामने ही नहीं, बल्कि आम दर्शकों के लिए भी।

प्रसाद के नाटकों की भाषा भले ही आज के अधिकांश दर्शकों के लिए पूरी तरह सुगम न हो, पर ये नाटक जिस जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करते हैं, वह हमारी मौजूदा पीढ़ी के मन और सौंदर्याबोध का संस्कार करने के लिए बहुत ही गहरे महत्व की है। उसका समकालीन महत्व भी बहुत है, हमारे आज के धर्मसंकट के संदर्भ में उसमें बड़ी सार्थक प्रासंगिकता है। दूर-दूर तक फैले हुए गुप्त साम्राज्य को विघटित करनेवाली शक्तियों और हमारी आज की परिस्थितियों के बीच, एक गहरे तल पर, बड़ी विचित्र समानता है। आज हमें भी किसी ऐसे आधुनिक स्कंदगुप्त की ही तलाश है जो प्रकट होकर अपने महान् स्वार्थत्याग के द्वारा इस देश की एकता की रक्षा कर सके और उसे सुदृढ़ बना सके। स्कंदगुप्त भी चाहता तो अपने युग का तटस्थ दर्शक मात्र बना रहता। पर उसने यह नहीं किया। राजसत्ता के प्रति अपनी उदासीनता के बावजूद, वह अपने युग के संघर्ष में खिंच आने को बाध्य हुआ। गहरे आत्मंथन की प्रक्रिया में से गुजरता हुआ वह अधिकार और सत्ता के उस चरम शिखर पर पहुँचा जहाँ से वह अपने युग के भारत में एकता और स्थिरता के लिए प्रयत्नशील शक्तियों का आह्वान और संगठन कर सका। पर उसकी कर्त्तव्यभावना और समर्पित कर्मशील जिंदगी ने उसे एकदम अकेला कर दिया। उसमें मन की कोमलतम भावनाओं को गहराई से अनुभव करने की क्षमता थी और वह कवि का-सा जीवन बिताना ही पसंद करता। पर फिर भी उसने अपने देशवासियों का व्यावहारिक नेता बनना तय किया और इसका मूल्य बहुत ही सीमित वैयक्तिक जीवन स्वीकार करके चुकाया। अपनी राजनीतिक और नैतिक सफलताओं के लिए उसे अपने निजी जीवन के संतोष और सुख की बलि देनी पड़ी। यह निर्णय उसके लिए सुखद न था, पर उसने परिस्थितियों की चुनौती स्वीकार करके इसे सहर्ष अपनाया और दृढ़तापूर्वक उसका

पालन किया। स्कंदगुप्त की यह कहानी आज की पीढ़ी को बार-बार सुनाने-दिखाने की ज़रूरत है।

कलकत्ता में प्रदर्शन के अनुभव से मेरा यह विश्वास दृढ़ हो गया है कि यदि ज़रूरी समुचित साधन, अभिनयप्रतिभा, और पर्याप्त समय सुलभ हो तो यह नाटक मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है और ज़रूर किया जाना चाहिए। उसकी तैयारी में विभिन्न स्तरों पर जो समस्याएँ आती हैं, और आना अनिवार्य है, उन्हें सुलझाने के लिए प्रयोग कर सकने का वक्त बहुत आवश्यक है। तभी इस प्रदर्शन को आधुनिक दर्शक के लिए सार्थक नाटकीय अनुभव के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, और यह निस्संदेह करने योग्य काम है। इसके लिए समय की कंजूसी करना ठीक नहीं। आख़िर ब्रैश्ट भी अपने बड़े और महत्वपूर्ण नाटकों की तैयारी के लिए , कभी-भी एक या दो साल तक लगाता था। हिंदी रंगमंच के लिए 'स्कंदगुप्त' निश्चित रूप से बड़ा और महत्वपूर्ण नाटक है। उसे प्रस्तुत करने के लिए न तो चार सप्ताह का समय काफी है न सीमित अभिनयक्षमता। आशा करनी चाहिए कि कभी न कभी यह अवश्य संभव हो सकेगा।

5. अधूरेपन की त्रासदी

नेमिचन्द्र जैन

मोहन राकेश के नये नाटक **आधे-अधूरे** के प्रकाशन पर समीक्षकों, दर्शकों और पाठकों की प्रतिक्रियाएँ कुछ इस तरह दो छोरों पर हुईं कि उसका सही मूल्यांकन जितना ज़रूरी था, शायद उतना ही कठिन हो गया। जहाँ किसी को उससे ब्रैश्ट, स्ट्रिंडबर्ग, इब्सन, ओनील, आर्थर मिलर सब एक साथ या एक-दो करके याद आये, वहाँ किसी और को वह व्यावसायिक अपील को क्रान्तिकारी लिबास में छिपाता हुआ, सतही और भीतर से खाली जान पड़ा। बुनियादी तौर पर यह फ़र्क़ रंगमंच के और सामान्यतः अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों के विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में संवेदनशीलता के अलग-अलग स्तरों का फ़र्क़ है। हमारे देश के रंगमंच पर अभी तक कलात्मक अभिव्यक्ति के मानक आमतौर पर बहुत पिछड़े हुए और हलके हैं। साथ ही नाटकों की इतनी कमी है कि मामूली तौर पर सफल नाटक भी बड़ी उपलब्धि-जैसा लग सकता है।

दरअसल, कलाकृति के रूप में **आधे-अधूरे** को जाँचने से पहले यह समझ लेना ज़रूरी है कि यह निस्सन्देह रंगमंच पर प्रस्तुत करने योग्य, सार्थक और समकालीन संवेदना के समीप नाटक है। हिंदी के ही अब तक के अधिकांश महत्वपूर्ण नाटकों से भिन्न, **आधे-अधूरे** आज के इंसानों की ज़िंदगी को किसी कदर आज के ही मुहावरे में पेश करता है। खास कर उसमें नाटक की सही भाषा की गहरी तलाश है। इस दृष्टि से वह निश्चित ही हिंदी नाटक को एक क़दम आगे ले जाता है।

यह नाटक आज के एक ऐसे मध्यवर्गीय परिवार के टूटने की प्रक्रिया के एक रूप को पेश करता है जिसमें पुरुष महेन्द्रनाथ बहुत दिन पहले व्यापार में सारी पूँजी गँवाकर अब बेकार है। पत्नी सावित्री नौकरी करके घर चलाती है। कई तरह की परिस्थितियों और अपने-अपने स्वभाव के कारण अब दोनों एक-दूसरे से बेज़ार हैं, नफ़रत करते हैं, मगर फिर भी किसी के लिए कोई और रास्ता नहीं है, दोनों साथ रहने को मज़बूर हैं। सावित्री को महेन्द्रनाथ सदा से दब्बू, व्यक्तित्वहीन, पर-निर्भर लगा है, आधा-अधूरा आदमी। सावित्री अपने लिए पूरा आदमी चाहती है। इसलिए उससे कटती जाती है, और लगातार

किसी पूरे आदमी की तलाश करती रहती है जो उसे कहीं नहीं मिलता। उधर महेन्द्रनाथ को शायद लगता है कि वह ज़बरदस्ती उस पर हावी होने की कोशिश करती है और उसे अपनी ज़िंदगी नहीं जीने देती और हमेशा अपमानित करती है। वह भी बार-बार उससे भागने की कोशिश करता है, मगर उस पर इतना निर्भर है कि हर बार लौट आता है।

इस प्रकार दोनों को किसी भिन्न व्यक्ति की तलाश है। दोनों अपने में आधे-से हैं, अधरे हैं, पर दूसरा उस अधूरेपन को कम नहीं करता, बल्कि उसके अहसास को और भी तीव्र कर देता है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि दोनों एक-दूसरे को छोड़कर जा नहीं सकते–इतने अधूरे हैं, इतने पंगु हैं। हर मंगल-शनीचर की भाँति इस बार भी महेंद्रनाथ अगले दिन शाम तक लौट आता है। सावित्री भी जगमोहन के साथ घर छोड़ने के प्रयास में असफल होकर वहीं लौटती है। दोनों इसी प्रकार एक साथ रहने को बाध्य हैं – शायद दुर्बलता के कारण, शायद आदत के कारण, शायद परिस्थितियों के कारण।

पति-पत्नी के बीच इस असामंजस्य और कलह का असर बच्चों पर भी भरपूर है। बड़ी बेटी बीना ने माँ के ही एक प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लिया, पर फिर भी दुखी और संत्रस्त है। बेटा अशोक पिता की भाँति बेकार है, उसका किसी नौकरी में मन नहीं लगता, और मनपसंद कोई काम मिलता नहीं। छोटी बेटी किन्नी इस वातावरण में सहज ही बिगड़कर ज़िद्दी, चिड़चिड़ी और विद्रोही हो गयी है। बिन्नी के इसी घर में लौट आने और अशोक की बेकारी में जैसे सावित्री और महेन्द्रनाथ की ज़िन्दगियों की ही पुनरावृत्ति है, वैसे ही तनावभरी, असंगत और व्यर्थतापूर्ण स्थितियों की नयी शुरुआतें।

यह स्थिति अपने आप में त्रासद भी है और करुण भी। अवश्य ही आज के पारिवारिक या स्त्री-पुरुष संबंधों की इससे कोई नयी, गहरी या सूक्ष्म पहचान नहीं मिलती, पर उसके सारे सतहीपन के बावजूद उसमें सच्चाई का एक स्तर मौजूद है। और हिंदी नाटक के लिए समकालीन सच्चाई की इतनी और ऐसी तलाश भी नयी है। इसी से जहाँ सृजनात्मक चेतना के स्तर और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से अत्यंत सामान्य, बल्कि घिसी-पिटी, होने पर भी इसकी विषयवस्तु नयी भी लगती है और मन को कहीं-न-कहीं छूती और प्रभावित भी करती है। बहुत सार्थक और महत्वपूर्ण सृजनात्मक कृति न होने पर भी **आधे-अधूरे** एक उल्लेखनीय नाटक है, इस बात को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। **आधे-अधूरे** कोई बड़ा, गहरा या विक्षोभकारी सृजनात्मक अनुभव नहीं प्रस्तुत करता, फिर भी उसमें एक आम हिन्दी नाटक से भिन्न और अपेक्षाकृत सार्थक नाटकीय अनुभव अवश्य है और यह उसकी स्पष्ट सफलता है।

मगर साथ ही यह नाटक इससे अधिक आगे नहीं जाता। 'उसमें महेन्द्रनाथ-सावित्री को जिस रूप में मूर्त किया गया है, उसमें उनके संबंध और टकराहट की कोई गहरी स्थिति

स्पष्ट नहीं। वह केवल दो व्यक्तियों के बीच ग़लतफ़हमी और झगड़े को, या अधिक-से-अधिक उनकी टकराहट की अनिवार्यता को ही पेश कर पाता है, उसे किसी बुनियादी इन्सानी संकट, पारस्परिक सम्प्रेषण असम्भव होने की स्थिति, अथवा किसी अन्य व्यापक कारण के साथ नहीं जोड़ पाता, दो इन्सानों या स्त्री या पुरुष मात्र के बीच उठने वाले सवालों की तह तक नहीं पहुँचता। उसमें न संबंधों की सार्विकता स्थापित होती है न किसी मानवीय स्थिति की अनिवार्यता ही उभरती है। नाटक का पूरा अनुभव-क्षेत्र बहुत ही छोटा, संकुचित और विशेष व्यक्तियों में सीमित है।

यहाँ प्रसंगवश कुछ दिलचस्प बातें राकेश के नाटक-जगत के बारे में कही जा सकती हैं। उनके तीनों नाटकों की विषयवस्तु पुरुष पात्र से जुड़ी है, पर हर नाटक का केन्द्रीय चरित्र स्त्री बन जाती है। चाहे वे कालिदास-मल्लिका हों, नन्द-सुन्दरी हों, चाहे सावित्री-महेन्द्रनाथ। तीनों नाटकों में ग़लती पर स्त्री ही होती है, पुरुष उसे छोड़कर चले जाने के लिए मज़बूर दिखाई पड़ता है। **आषाढ़ का एक दिन** में कालिदास और **लहरों के राजहंस** में नन्द एक बार वापस लौटकर दोबारा जाते हैं। **आधे-अधूरे** में महेन्द्रनाथ लौटता तो है, पर फिर जाता नहीं, वहीं रहने को मज़बूर है। न जाने क्यों, राकेश अपने नाटकों में स्त्री-पुरुषों के बीच चरम साक्षात्कार कराने से कतराते हैं। उनके सभी पुरुष पात्र स्त्री से खीझकर, निराश होकर या अन्य किसी कारण से खिसक जानेवाले भगोड़े हैं। वे अपने संबंधों की नियति का सामना करने से बचते हैं। ऐसा लगता है कि एक ही अनुभव छोटे-मोटे परिवर्तन के साथ बार-बार दोहराया जा रहा है। उसमें ताज़गी या आयाम अथवा स्तर की नवीनता बहुत कम है। सावित्री के महेन्द्रनाथ और जुनेजा के साथ बहुत-से संवादों में **लहरों के राजहंस** के नये रूप में नन्द-सुन्दरी के बीच अन्तिम संवादों की बहुत ज़्यादा अनुगूँज है।

नाटक एक प्रकार की प्रस्तावना से शुरू होता है जिसमें एक 'काले सूट वाला आदमी' आता है जो कि पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन तथा पुरुष चार की भूमिकाओं में भी है। हर भूमिका में पात्र के अनुसार उसके वेश का कुछ अंश बदल जाता है, बाक़ी वही रहता है। यानी कि जैसा सावित्री अन्त में कहती है –'बिलकुल एक-से हैं आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही है।' पता नहीं राकेश ने इस युक्ति का सहारा क्यों लिया है? नाटक में नवीनता पैदा करने के लिए? नाटक को एक व्यापक दार्शनिक सार्थकता देने के लिए? इन कुछ व्यक्तियों के अनुभव को हर आदमी का अनुभव सिद्ध करने के लिए? मुझे तो काले सूटवाला आदमी एकदम निरर्थक, अनावश्यक बल्कि खिझानेवाला आडम्बर या तिकड़म-जैसा ही लगा। क्योंकि वह जो बातें कहता है वे नाटक में प्रस्तुत अनुभव से कहीं चरितार्थ नहीं होतीं, उनकी नाटक की मूल भावधारा के साथ कोई संगति नहीं। यह बात सही नहीं लगती कि नाटक में एक ही आदमी से हमारी

भेंट कई बार होती है। पुरुष एक, दो, तीन और चार एक ही व्यक्ति के खंडित या विभाजित रूप नहीं है, वे चार निश्चित अलग-अलग व्यक्ति हैं, और उनकी भूमिकाएँ अगर अलग रहें तो नाटक की संवेदना में, उसकी बात के सम्प्रेषण में, रत्ती भर फ़र्क़ नहीं आता। बल्कि यह आरोप उस बात के सम्प्रेषण में बाधा डालता है, उनकी सच्चाई से हमारा ध्यान हटाता है। इनमें से कोई भी व्यक्ति सावित्री के साथ होता तो उसकी और उन दोनों की ज़िन्दगी भिन्न प्रकार की होती। महेन्द्रनाथ के सिवाय अन्य किसी अनिश्चित आदमी से हमारी मुलाक़ात नही होती। बाक़ी सबके अपने निश्चित व्यक्तित्व हैं, सड़क पर टकराने वाले आदमी की तरह व्यक्तित्वहीन नहीं। स्वयं नाटक भी अनिश्चित नहीं है, वह एक निश्चित बात कहता है, निश्चित रूप लेता है। नाटक में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं आता–शायद महेन्द्रनाथ को छोड़कर–जिसने 'मैं कौन हूँ?' सवाल का कभी सामना किया हो और अब छोड़ दिया हो। इसी प्रकार इस नाटक से ज़ाहिर नहीं होता कि 'आप में और उसमें, उसमें और उस दूसरे में, उस दूसरे में और मुझमें...।' वही समानता है। यह भी सही नहीं है कि 'परिस्थितियाँ बदल जातीं तो भी मैं वही रहता।' यह सिद्धांत अपने आप में एक निहायत रूमानी क़िस्म के समाजशास्त्र पर आधारित आधा या चौथाई सत्य होने के अलावा इस नाटक की परिस्थितियों में फ़िट नहीं बैठता। यदि इस विशेष मध्यवर्गीय परिवार की केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही भिन्न होतीं तो नाटक में उस 'सत्रांस' का, या कि जिसे नाटककार ने 'हवा' कहा है उसका, बहुत मामूली-सा ही असर रह जाता। यह नाटक सिर्फ़ इन्हीं पात्रों का, इन्हीं परिस्थितियों का है, उसमें इस कारण एक प्रकार की सचाई भी है, पर उसके अर्थ को फैलाते ही वह सीमित सचाई भी झूठी पड़ने लगती है।

इसी प्रकार एक ही अभिनेता के पाँच भूमिकाएँ करने पर आग्रह में चाहे जितनी चौंकानेवाली नवीनता हो, यह कोई बहुत अच्छी रंगमंचीय युक्ति नहीं। उसका ठीक-ठीक व्यवहार अगर असंभव नहीं तो बहुत ही कठिन अवश्य है। हिंदी क्या, देश भर में ऐसे अभिनेता कहाँ मिलेंगे जो पूरे अभिनय को कृत्रिम, सतही और झूठा बनाये बिना पाँच भूमिकाएँ कर सकें? उससे कुछ भी हाथ नहीं लगता, उल्टे नाटक के सहज और उचित विकास और बुनावट में बाधा पड़ती है। शायद उसके कारण भी सावित्री का महेन्द्रनाथ से आमना-सामना सीधे न होकर जुनेजा के माध्यम से होता है जो एक अनुभव के प्रत्यक्ष और सीधे रूपायन की बजाय सूचना-उद्‌घाटन के रूप में सामने आता है। चरमबिन्दु पर उद्‌घाटन की यह प्रक्रिया नाटक की गति को सीधी और सपाट कर देती है। इसी युक्ति के कारण अन्त भी बेहद बनावटी और हास्यास्पद हो जाता है–जब जुनेजा 'संभलकर महेन्द्रनाथ संभलकर' कहता हुआ बाहर जाता है और कुछ ही पल बाद महेन्द्रनाथ बनकर लौटता है। कोई आश्चर्य नहीं कि नाटक के हर प्रदर्शन में इस स्थल पर दर्शक में करुणा

के बजाय हँसी उभरती है। युक्ति के इस आडम्बर के कारण नाटक में सीधे-सहज अनुभव की सच्ची और प्रभावी तस्वीर भी कुछ धुँधली होने लगती है।

तरह-तरह की रंग-युक्तियों के द्वारा निर्देशक और अभिनेता का काम अपने हाथ में लेने की प्रवृत्ति इस नाटक में बहुत ही ज़्यादा है। अभिनेता की हर गति और रंगचर्या को नाटककार ने निर्धारित कर देना चाहा है। इस प्रक्रिया में नाटक में बहुत-सी घिसी-पिटी रंगचर्याओं का सहारा लिया जाता है : जैसे, महेन्द्रनाथ का फ़ाइलें झाड़ना, अशोक का कैंची से कागज़ काटते रहना, सावित्री का तुतलाकर बोलना, बिन्नी द्वारा डिब्बा नहीं खुल पाना, अशोक का पैंट में कीड़ा घुसने का नाटक करना, किन्नी का कुंडी बन्द कर लेना, आदि। यह घिसा-पिटापन बहुत-सी नाटकीय युक्तियों में भी है, जैसे, अशोक के कार्टून में सावित्री को महेन्द्रनाथ की शक्ल नज़र आना, मोटर की बैटरी बिगड़ जाना, आदि-आदि।

आधे-अधूरे के चरित्रों की परिकल्पना में बहुत सूक्ष्मता या सफ़ाई या सृजनात्मक कल्पनाशीलता कम है और संग्रह-वृत्ति बहुत लगती है। स्वभाव और व्यवहार की कई प्रकार की विशेषताएँ एक ही चरित्र में एक साथ इकट्ठी कर दी गयी हैं जो अलग-अलग दिलचस्प होकर भी रचना की दृष्टि से एक दूसरे को काटती और तोड़ती है। महेन्द्रनाथ दब्बू और पर-निर्भर है, व्यक्तित्वहीन-सा इन्सान है, जो दरिन्दा बन जाता है और उसकी इस दरिन्दगी को सावित्री-जैसी स्त्री बाईस वर्ष तक बर्दाश्त करती रहती है। सिंहानिया में इतने सारे व्यक्तियों का असंगत मेल है कि वह कैरीकेचर बन गया है। जुनेजा के बारे में शुरू से एक प्रकार के स्वार्थी दुष्ट व्यक्ति का प्रभाव बनाया गया है, पर अंततः वह इतना समझदार साबित होता है कि सहानुभूति महेन्द्रनाथ के साथ होने लगती है। सावित्री के व्यक्तित्व में बेहद इकहरापन है, शुरू से आख़िर तक सिर्फ़ चिड़चिड़ेपन के सिवाय और कोई रूप उसका नहीं उभरता। यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि इतने सारे पुरुषों के साथ उसके संबंध किस तरह के हैं? शरीर के भी? महेन्द्रनाथ के साथ उसकी टकराहट का क्या यह भी एक कारण है? यह संकेत मान लिया जाय तो नाटक का अर्थ ही बदलने लगता है। पर लेखक ने इस मामले में बड़ी असावधानी बरती है।

इस तरह की ब्यौरे की बहुत-सी बातें नाटक के कथ्य और शिल्प की कमज़ोरी और अस्पष्टता के बारे में कही जा सकती है। **आधे-अधूरे** का महत्व यह है कि वह आज के यथार्थ को सीधे पेश करता है, अतीत की किसी कथा के माध्यम से नहीं। पर सृजनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से वह **आषाढ़ का एक दिन** से पीछे ही रह जाता है। यही कारण है कि जहां उससे हिन्दी रंगमंच के लिए उपलब्ध प्रभावी और सुगठित नाटकों में एक स्वागतयोग्य वृद्धि हुई है, वहीं सृजनात्मक साहित्य के स्तर पर उसके बारे में बहुत अधिक उत्साहित हो सकना कठिन है।

6. राकेश के नाटक : कुछ अंतस्सूत्र

जगदीश शर्मा

मोहन राकेश का कहना है कि उनका नाट्य लेखन हिंदी रंगमंच की तलाश के रूप में आरंभ हुआ था। हिंदी के अपने रंगमंच की यह खोज हिंदीभाषी प्रदेश की अपनी संस्कृति के प्रश्न से जुड़ी थी। 'आषाढ़ का एक दिन' की भूमिका में इस संबंध में उन्होंने लिखा है: 'हिंदी रंगमंच को हिंदीभाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन में राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूप नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा।' 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में इसी बात पर जोर देते हुए उन्होंने फिर लिखा : 'दिल्ली के तथाकथित 'हिंदी-रंगमंच' (वस्तुतः अंग्रेज़ी-पंजाबी रंगमंच) की अपेक्षाओं की पूर्ति इससे न हो, तो मैं अपने को दोषी नहीं मानूंगा। ऐसे किसी रहस्य का बीज इस नाटक में नहीं है जो तीसरे अंक के अंत में जाकर खुलता हो।'

'लहरों के राजहंस' में तो सचमुच ऐसा नहीं हुआ है, लेकिन राकेश के अन्य दो नाटकों के संबंध में यह दावा नहीं किया जा सकता। 'आषाढ़ का एक दिन' और '**आधे-अधूरे**' दोनों में घटनात्मक रहस्य न सही, मनोवैज्ञानिक रहस्य अवश्य गर्भित है, जो तीसरे अंक के अंत में ही खुलता है। फिर भी, यह सही है कि इस रहस्य का उपयोग कौतूहल और सनसनी के लिए नहीं किया गया है, उसे नाटक के कथानक के भीतर सहज रूप से खपा दिया गया है। हिंदी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्ति इन नाटकों में किस प्रकार की गई है, यह स्पष्ट नहीं है। इतना अवश्य है कि पहले दो नाटकों में हमारे सांस्कृतिक अतीत की झलक मिलती है। 'आषाढ़ का एक दिन' की मंचसज्जा तथा प्रकृति और मानवसंबंधों के प्रति भावुक दृष्टिकोण में और 'लहरों के राजहंस' में मंचसज्जा के साथ वैराग्य और भोगवाद के द्वंद्व में भारत की अतीतकालीन संस्कृति का प्रभावशाली अंकन उपलब्ध है, लेकिन '**आधे-अधूरे**' मे परिवार संस्था के विघटन में सांस्कृतिक पूर्ति की खोज एक कठिन कार्य है। पहले दो नाटकों में सांस्कृतिक अतीत के चित्रण में पश्चिम की अस्तित्ववादी जीवनदृष्टि भी अंतर्व्याप्त है, जो '**आधे-अधूरे**' में खुल कर सामने आई है।

मोहन राकेश ने जब 'सांस्कृतिक पूर्ति' की बात सोचते हुए नाटक रचना आरंभ की थी, उस समय उनके सामने संभवतः प्रसाद के नाटकों का आदर्श था। दूसरी ओर उनके सामने यथार्थवादी रंगमंच था। उनके पहले दो नाटकों में प्रसाद के नाटकों की अतीत-कालीन सांस्कृतिक भव्यता और यथार्थवादी रंगमंच के समन्वय की चेष्टा स्पष्ट दिखलाई देती है। लेकिन उन्होंने प्रसाद के नाटकों से सांस्कृतिक अतीत को चित्रित करने की प्रेरणा जिस मात्रा में ली, उससे कहीं अधिक मात्रा में रूमानी भावबोध की परंपरा ग्रहण की। पहले दो नाटकों में तो यह स्पष्ट ही है, तीसरे नाटक में भी आधुनिकता और यथार्थपरक दृष्टिकोण के बावजूद रूमानी स्वर अव्यक्त नहीं हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में प्रकृति और प्राणिजगत के साथ तादात्म्य तथा भौतिक सुख-सुविधा और महत्वाकांक्षा को त्यागकर भावना में जीवित रहने की प्रेरणा में स्पष्टतः छायावादी स्वर सुनाई देता है। 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी का भोगवाद रूमानियत से आवृत है और बलात मुंडन कर दिए जाने पर नंद की भावुकता का विस्फोट भी रूमानी है। '**आधे-अधूरे**' के आरंभ में जिस सामाजिक यथार्थ के धरातल पर परिवार की आधुनिकता से उत्पन्न हुए प्रश्नों को उतारा गया है, अंत में उसकी परिणति ऊब, अतृप्ति और कुंठा के भावात्मक अंकन में हो जाने से उसमें भी रूमानियत मुखर हो उठी है। यह सही है कि '**आधे-अधूरे**' राकेश का सबसे अधिक गद्यात्मक और वस्तुपरक नाटक है, लेकिन अंत में भावुकतापूर्ण जीवनदृष्टि का उन्मेष अत्यंत तीव्र होने से वह रूमानियत से मुक्त नहीं रह सका है।

फिर भी, मोहन राकेश ने हिंदी नाटक को जो नया मोड़ दिया है, वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने नाटकों में परंपरागत वस्तुविन्यास का परित्याग कर, घटनाक्रम के स्थान पर स्थितिसर्जन के सहारे कथानक को गति प्रदान की। सहजता के भीतर दंशपूर्ण संवादों की सृष्टि की और संवेदनाघातों के मध्य बौद्धिक सप्रश्नता का प्रकाश बिखेरा, लेकिन जो सबसे बड़ा कार्य किया वह यह कि हिंदी नाटक की साहित्यिकता को पूरी तरह प्रबुद्ध एवं समृद्ध मंच चेतना में ढाल दिया।

राकेश की मंच चेतना 'परदों' से 'प्रकाश' की ओर बढ़ी है। 'आषाढ़ का एक दिन' परदा उठने के रंगनिर्देश के साथ आरंभ होता है। प्रथम अंक के अंत में परदा गिरने या बदलने अथवा प्रकाश लुप्त होने का कोई निर्देश नहीं है। द्वितीय अंक के आरंभ में भी इस संबंध में कोई निर्देश नहीं है कि दो अंकों के मध्य अंतराल की व्यवस्था के लिए इस नाटक में राकेश के ध्यान में परदों की व्यवस्था थी या प्रकाश की। तृतीय अंक के आरंभ में दिए गए रंगनिर्देश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह नाटक लिखते समय अंकपरिवर्तन के लिए भी राकेश के मन में परदे के उपयोग की ही कल्पना थी। निर्देश दिया गया है : 'परदा उठने पर वही प्रकोष्ठ'। 'लहरों के राजहंस' की रचना भी परदे वाले रंगमंच को ध्यान मे रखकर की गई है, लेकिन अंकपरिवर्तन के लिए प्रकाशव्यवस्था का उपयोग

करने का निर्देश दिया गया है। नाटक का आरंभ परदा उठने से ही होता है। लेकिन सभी अंकों का अंत और द्वितीय अंक का आरंभ भी प्रकाशव्यवस्था द्वारा होता है। नाटक के अंत में समापन के लिए प्रकाशव्यवस्था और ध्वनिव्यवस्था का सम्मिलित उपयोग किया गया है। नाटक के अंत से कुछ पहले ही 'प्रकाश धीमा होने लगता है और उसके साथ-साथ नेपथ्य में श्यामांग के शब्द सुनाई देते हैं !... इस बीच सुंदरी की छायाकृति चेहरे से हाथ हटाती है', और अंत में 'नेपथ्य का स्वर और मंच की आकृति दोनों साथ-साथ विलीन हो जाते हैं।' इस प्रकार नाटक के आरंभ में जो परदा उठाया गया था, उसे बिना गिराए ही प्रकाश और ध्वनि के सहारे नाटक समाप्त कर दिया गया है। अपने अगले और अंतिम नाटक '**आधे-अधूरे**' में नाटक का आरंभ उन्होंने परदे और प्रकाश व्यवस्था के सम्मिलित उपयोग से किया है : 'परदा उठने पर सबसे पहले चाय पीने के बाद डाइनिंग टेबिल पर छोड़ा गया अधटूटा टी सेट आलोकित होता है। फिर फटी किताबें और टूटी कुर्सियों आदि में से एक एक। कुछ सेकंड बाद प्रकाश सोफे के उस भाग पर केंद्रित हो जाता है जहाँ बैठा काले सूट वाला आदमी सिगार के कश खींच रहा है। उसके सामने रहते प्रकाश उसी तक सीमित रहता है, पर बीच में कभी यह कोना और कभी वह कोना साथ आलोकित हो उठता है।' काले सूट वाले द्वारा बांधी गई भूमिका के बाद नाटक का मुख्य भाग आरंभ होने पर फिर प्रकाश व्यवस्था का ही उपयोग किया गया है। काले सूट वाला 'हल्के अभिवादन के रूप में सर हिलाता है जिसके साथ ही उसकी आकृति धीरे-धीरे धुंधलाकर अंधेरे में गुम हो जाती है। इसके बाद कमरे के अलग-अलग कोने एक एक करके आलोकित होते हैं और एक आलोकव्यवस्था में मिल जाते हैं।' पहले अंक का अंत 'लहरों के राजहंस' के समापन के समान प्रकाश और ध्वनि के सम्मिलित प्रभाव द्वारा किया गया है : 'एक खंडहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत।... प्रकाश आकृतियों पर धुंधलाकर कमरे के अलग अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है। मंच पर पूरा अंधेरा होने के साथ संगीत भी रुक जाता है।' द्वितीय अंक के आरंभ में फिर प्रकाश का नाटकीय उपयोग किया गया है : 'दो अलग अलग प्रकाशवृत्तों में लड़का और बड़ी लड़की...प्रकाश पूरा होने पर कमरे में वह बिखराव नज़र आता है, जो एक दिन ठीक से देख-रेख न होने से आ सकता है।' नाटक का अंत प्रकाश और ध्वनि के उपयोग के संबंध में राकेश की बढ़ती हई समझ और सूझ का परिचय देता है : 'प्रकाश खंडित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक ही सीमित हो जाता है।...हल्का मातमी संगीत उभरता है जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है। तभी लगभग अंधेरे में लड़के की बांह थामे पुरुष एक की धुंधली आकृति अंदर आती दिखाई देती है।...उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है।'

पहले नाटक में परदा ही अंको के उदय और अस्त का साधन था; दूसरे नाटक में परदा नाटक आरंभ होने से पहले रंगस्थल को प्रेक्षागृह से अलग करने का ही–नाटक आरंभ होने से पूर्व सेट को दर्शकमंडली की दृष्टि से ओझल रखने का ही–साधन रह गया। एक बार सेट सामने आ जाने पर परदे का उपयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई, क्योंकि नाटक के आरंभ से अंत तक सेट वही रहता है। अंक केवल समय का अंतराल सूचित करते हैं। दो अंकों के बीच के इस व्यवधान के लिए दूसरे नाटक में प्रकाशव्यवस्था का उपयोग किया गया है, लेकिन इसमें प्रयुक्त प्रकाशव्यवस्था बहुत सादी है। प्रायः मंद पड़ते प्रकाश का सहारा अंक के समापन के लिए लिया गया है। इसी नाटक के अंत में प्रकाश को ध्वनि का सहयोग प्रदान कर प्रकाश और ध्वनि के मिश्रित प्रभाव को अधिक संश्लिष्ट और कलात्मक रूप दिया गया है। तीसरे नाटक में यह कला और भी निखर गई है। प्रकाश का उपयोग नृत्यमय भंगिमा के साथ किया गया है और उसकी भूमिका अपेक्षाकृत विलंबित है। इस नाटक के अंत में ध्वनि प्रकाश को सहयोग देने के स्थान पर विरोध द्वारा उस तनाव को उभारती है जिसके साथ यह नाटक समाप्त होता है। इस प्रकार इस नाटक के अंत तक आकर राकेश ने अपने मंच संबंधी अनुभव का पूरा लाभ उठाया है।

अपने अंतिम दो नाटकों को परदे से मुक्ति दिलाने मे राकेश को सफलता यथार्थवादी मंच के कारण मिली है। यथार्थवादी मंच की अपनी सीमा होती है। कुछ समीक्षकों का विचार है कि यथार्थवादी मंच के आग्रह ने कहीं कहीं राकेश के नाटकों की कथा के सहज विकास को कुंठित किया है, लेकिन राकेश की नाट्यचेतना ढली ही यथार्थवादी रंगमंच के ढांचे में है। उनकी नाट्यकल्पना कथा की घटनाओं के साथ नहीं, उन स्थितियों के साथ चलती है जो चारित्रिक द्वंद्व को उजागर करती है और यह चारित्रिक द्वंद्व एक स्त्री का होता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में वह मल्लिका के चरित्र का द्वंद्व है, 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी के चरित्र का और '**आधे-अधूरे** में स्त्री के चरित्र का। इसलिए कथा चरित्र का अनुसरण करते हुए घर के भीतर ही घटित होती है, और वहाँ भी किसी खास कमरे में जहाँ नायिका प्रायः बनी रहती है। कुछ समय के लिए वह वहाँ से हटती अवश्य है, लेकिन उस अवस्था में भी मंच पर उपस्थित पात्रों की चेतना पर वह छाई रहती है। फलतः उनके सभी नाटकों में नायिका का वर्चस्व दिखलाई देता है।

नायिका की तुलना में नायक की भूमिका उनके नाटकों में गौण है। चारित्रिक द्वंद्व नायकों में भी है, लेकिन एक तो वह नाटक का केंद्रबिंदु नहीं है, दूसरे वह स्थानीय होता है–इसलिए या तो नाटक के अंत में प्रकट होता है अथवा प्रारंभ में ही व्यक्त होकर रह जाता है, देर तक उसका निर्वाह नहीं होता। कालिदास का द्वंद्व नाटक के अंत में फूटता है, नंद का द्वंद्व भी नाटक के अंत में ही प्रकट होता है, पुरुष-एक का द्वंद्व भी नाटक के

आरंभ में अपनी झलक दिखलाकर रह जाता है; जबकि मल्लिका पहले अंक के आरंभ से अंतिम अंक के अंत तक रंगमंच पर अपने आपसे जूझती रहती है, सुंदरी पहला अंक आरंभ होने के कुछ देर बाद अपने प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को उद्‌घाटित करती हुई रंगमंच पर आती है तो उस पर अनेक चोटें सहती हुई तब तक वहीं बनी रहती है जब तक अंत में स्वयं टूट नहीं जाती; '**आधे-अधूरे**' की स्त्री बीच में कुछ देर के लिए बाहर अवश्य जाती है, लेकिन उस कालांश को छोड़कर वह बराबर मंच पर बनी रहती है और जिस बीच वह मंच पर नही होती, उस बीच भी मंच पर उपस्थित पात्रों की चेतना पर छाई रहती है।

राकेश के नाटकों के नायकों का चरित्र नायिकाओं की तुलना में निस्तेज है। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के नायक दुविधाग्रस्त हैं, किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले उन्हें इधर से उधर और उधर से इधर बहुत होना पड़ता है, उनका तथाकथित निर्णय या तो नायिकानिर्दिष्ट होता है उसके किसी निर्णय की प्रतिक्रिया। कालिदास उज्जयिनी जाने का निर्णय मल्लिका के निर्देश पर करता है और 'अथ से आरंभ' करने के विचार से इसलिए पलायन कर जाता है कि मल्लिका उससे पहले ही निर्णय ले चुकी थी, जिसका परिणाम उसकी बालिका थी; अंत में कालिदास का पलायन मल्लिका के इस निर्णय के ज्ञान का परिणाम था। 'लहरों के राजहंस' में नंद गौतम बुद्ध के पीछे जाने का निर्णय सुंदरी के आदेश पर लेता है और अंत में पलायन उस ग्लानि के कारण करता है जो उसके मुंडित रूप को देखकर सुंदरी के डर जाने से उसे हुई थी। '**आधे-अधूरे**' के नायक का चरित्र भी सूच्य कथावस्तु के अनुसार (बकौल जुनेजा) ऐसा ही रहा था, लेकिन पुरुष दो के आने पर घर से चले जाने का निर्णय वह स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक लेता है, फिर भी वह इतना दब्बू है कि अपने निर्णय और उनके कारणों को स्पष्ट रूप से प्रकट न कर बहानेबाजी करता है जिससे उसका चरित्र अपनी दबंग स्त्री के सामने फीका पड़ जाता है।

तीनों नाटकों के अंत में नायकों की विवश स्थिति अंकित है। तीसरे नाटक का अंत पहले दो नाटकों के अंत से इस रूप में अवश्य भिन्न है कि उसमें नायक घर लौटता हुआ दिखलाई देता है, जबकि पहले दो नाटकों के अंत में नायक घर से पलायन करता है। इस भिन्नता में भी एक समानता है, और वह यह कि दोनों परिणाम उसकी अभिशप्त नियति के द्योतक हैं। घर में रह सकने की स्थिति में वह नहीं है, लेकिन घर से बाहर रह सकना भी उसके वश की बात नहीं है। इस दृष्टि से '**आधे-अधूरे**' का अंत पहले दो नाटकों के अंत का पूरक है। इस गृहकेंद्रित स्त्रीप्रधान नाट्यसंरचना के मूल में यदि कोई मनो-विश्लेषणात्मक कारण नहीं है तो यथार्थवादी रंगमंच की चेतना का हाथ उसमें अवश्य है। यथार्थवादी मंच के भारी-भरकम सेट को बार-बार बदलना संभव नहीं होता।

इसलिए एक ही सेट पर पूरा नाटक खेलना होता है। संभवतः इस विवशता ने राकेश को ऐसे कथानक चुनने को प्रेरित किया है जो एक घर के भीतर–घर के किसी एक कमरे में ही–घटित हो सकते हैं। ऐसे नाटकों के केंद्र में गृहिणी रहे, यही स्वाभाविक है।

एक दृश्यबंधीय नाट्यरचना में कथानक की गति बनाए रखना बहुत कठिन होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिए राकेश ने रंगमंच पर पात्रों को बराबर बदलते रहकर कथास्थितियों को परस्पर जोड़ा है। पात्रों का एक दल एक स्थिति उत्पन्न करता है, तब तक उनमें से कुछ पात्र मंच से चले जाते हैं और उनके स्थान पर कुछ नए पात्र आ जाते हैं जो मंच पर पहले से रह गए पात्रों के साथ मिलकर पहले वाली कथास्थिति को आगे ले जाते हैं। इस प्रकार नई-नई कथास्थितियाँ उत्पन्न होती रहती है और पहले वाली स्थितियों की श्रृंखला में नई-नई कड़ियाँ जोड़ती जाती है। इन्हीं कड़ियों के माध्यम से कथानक को गति प्राप्त होती है। फलतः उनके नाटकों में कथानकों की गति धारावाही न होकर कथास्थितियों के खंडयोगों से निर्मित होती है।

इससे नाटक की अन्विति में सूक्ष्म दरार पड़ जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। राकेश के नाटकों में ऐसी दरार प्रायः दिखलाई देती भी है। 'आषाढ़ का एक दिन' के पहले दो अंकों में मल्लिका के उत्सर्ग की कथा उभरती है, लेकिन तीसरे अंक में वह कालिदास के अंतर्द्वंद्व की कथा में परिणत हो जाती है। 'लहरों के राजहंस' में भी पहले दो अंकों में सुंदरी के रूपदर्प और भोगवादी दृष्टिकोण की जो कथा उभरी है, तीसरे अंक में उसका स्थान नंद की अस्तित्ववेदना ने ले लिया है। इसी कारण इन दोनों नाटकों के पहले दो अंकों की नायिका प्रधानता का स्थान तीसरे अंक में आकर एकाएक नायक का वर्चस्व ले लेता है। '**आधे-अधूरे**' में तो कथानक की गति और भी अधिक विभाजित है। आरंभ के दांपत्यसंघर्ष का स्थान थोड़ी देर बाद ही सिंघानिया का हास्यास्पद व्यवहार ले लेता है, उसके बाद भूतपूर्व प्रेमी का सहारा पाने के लिए स्त्री की निष्फल अभ्यर्थना सामने आती है, फिर छोटी लड़की का उद्दंड व्यवहार और अंततः जुनेजा के साथ स्त्री की झड़प के माध्यम से नायिक-नायिका के मनोविज्ञान का उद्घाटन होता है। इससे कथानक के बल अवश्य बदले हैं, लेकिन इन बदलते हुए बलों के बावजूद एक केंद्रीय संवेदना उसके भीतर से प्रवाहित होती हुई नाटक के अंतर्प्रवाह को अक्षुण्ण रखती है।

कथानक के खंडयोगों, कथास्थितियों के बीच छूटी हुई जगहों को भरने के लिए राकेश ने सूच्य कथा का सहारा भी लिया है, जो कभी-कभी अस्वाभाविक हो गया है। 'लहरों के राजहंस' में व्याघ्र के साथ नंद के द्वंद्व की सूचना देने के लिए सुंदरी के कक्ष में भिक्षु आनंद का प्रवेश बहुत अस्वाभाविक है, इसी प्रकार '**आधे-अधूरे**' में स्त्री और जगमोहन

के बीच जो बातचीत हुई थी, जुनेजा द्वारा उसकी कल्पनाश्रित सूचना अस्वाभाविक नहीं तो अरुचिकर अवश्य है।

एकदृश्यबंधीय व्यवस्था के परिणामस्वरूप सूच्य कथा ही नहीं, दृश्यकथा भी अनेक बार अस्वाभाविक हो गई है। शायद इसी कारण 'आषाढ़ का एक दिन' में विलोम जैसे खलपात्र का मल्लिका के घर में बेरोक-टोक प्रवेश दिखलाया गया है और इसी कारण 'लहरों के राजहंस' में सुंदरी के शयनकक्ष में श्यामांग और श्वेतांग डोरी सुलझाते हैं और **'आधे-अधूरे'** में जिस कमरे में बाहर के लोग आकर बैठते हैं उसी में घर के लोग चाय पीते है और वहीं पति-पत्नी आपस में झगड़ते हैं तथा लड़का भी उसी स्थान पर कैंची से तसवीरें काटता रहता है, जबकि घर में दूसरे कमरे भी हैं।

एकदृश्यबंध की सीमा के कारण नाटक की गति एकस्थानीय रहती है। फलतः देर तक बहुत कुछ ऐसा बच रहता है जो मंच पर प्रदर्शित अथवा सूचित कथास्थितियों में नहीं समेटा जा सकता। इस प्रकार के अवशिष्ट प्रकरण के लिए नाटकों के अंत में स्थान निकाला गया है। इसलिए अनेक बार गर्भित परिस्थिति की व्याख्या नाटक के अंत में उपलब्ध होती है। इसका परिणाम यह होता है कि नाटक के अंत तक पहुँचते-पहुँचते व्यंजनाधर्मी कथास्थितियों का स्थान अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के व्याख्यात्मक समाधान ले लेते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के अंत में कालिदास लंबी वक्तृता के साथ यह स्पष्ट करता है कि कश्मीर का शासक नियुक्त होने पर अपने गाँव से गुजरते समय वह मल्लिका से मिलने क्यों नहीं आया। 'लहरों के राजहंस' में बलपूर्वक मुंडन कर दिए जाने के संबंध में नंद का भावावेश एक लंबे भाषण के रूप में व्यक्त हुआ है। **आधे-अधूरे** के अंत में महेंद्रनाथ के निकम्मेपन की व्याख्या भी जुनेजा के संवाद में काफ़ी लंबी हो गई है। स्पष्टीकरण और व्याख्या के प्रयत्न में विगत प्रसंगों की सूचनाएँ दीर्घाकारी संवादों के रूप में नाटकों के अंत में आई हैं। अंत के ये लंबे संवाद नाटक के मुख्य भाग में आए संक्षिप्त संवादों से एकदम अलग दिखलाई देते हैं।

अंत में संवादों के लंबे हो जाने का एक कारण यह भी है कि यहाँ तक पहुँचकर मुख्य पात्र टूटने की चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं। अब तक जो तनाव थोड़ा-थोड़ा करके रिसता रहा था, वह यहाँ आकर निःशेष हो जाता है। इसलिए राकेश के नाटकों के अंत में स्थगित प्रश्नों के उत्तर ही नहीं, भीतर थमे हुए आवेश का फूट पड़ना भी अंत के संवादों के लंबे हो जाने के लिए उत्तरदायी है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका तो पहले ही थोड़ा-थोड़ा करके टूटती रही थी, अंत में कालिदास भी टूटता दिखलाई देता है और मल्लिका के टूटने की चरम परिणति भी वहीं होती है। इसलिए मल्लिका व कालिदास दोनों के संवाद अंत में लंबे हैं। 'लहरों के राजहंस' में भी स्थिति कुछ ऐसी ही है। सुंदरी का तनाव देर तक मंच पर व्यक्त होता रहा है, लेकिन नंद काफी देर तक

संतुलित दिखलाई देने के बाद अंत में चोट खाकर फूट पड़ता है और संवाद की नाटकीयता गद्य काव्य में परिणत हो जाती है। '**आधे-अधूरे**' में तनाव पूरे नाटक में फैला हुआ है और पहले दो नाटकों के विपरीत इस नाटक में नायक की टूटन भी पहले अंक में ही चरम सीमा पर पहुंचती दिखलाई देती है, जब वह यह कहता हुआ घर से चला जाता है : 'मुझे पता है, मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर ही अंदर इस घर को खा लिया है। पर अब पेट भर गया है मेरा। हमेशा के लिए भर गया है और बचा भी क्या है, जिसे खाने के लिए रहता रहूँ यहाँ?' लेकिन अभी त्राण की संभावना समाप्त नहीं हुई है। पति-पत्नी दोनों उस घर से नाता तोड़कर त्राण पाने के लिए सचेष्ट हैं। दोनों की यह चेष्टा अंत में असफल होती है। दोनों उसी घर में जीने के लिए अभिशप्त हैं। इस अभिशाप की अनुभूति ही नाटक की चरम सीमा है और इसलिए यहाँ आकर स्त्री तथा दूसरी ओर महेंद्रनाथ की ओर से जुनेजा की वेदना का विस्फोट होता है। इस प्रकार राकेश के तीनों नाटकों के अंत मे आए हुए लंबे संवादों के मूल में पात्रों की भावावेशमयी मनोदशा का काफी योग रहा है। यदि उसके साथ परिस्थिति प्रेरित भावावेश न जुड़ा होता तो लंबे संवाद नाटकों के अंत को अवश्य बोझिल बना देते, जिससे उनके प्रभाव की गहरी क्षति होती।

इस तनाव और टूटन में लेखक की अस्तित्ववादी दृष्टि अंतर्निहित है। अपने नाटकीय लाघव के बल पर राकेश ने अपने दृष्टिकोण की दार्शनिकता को मुखर नहीं होने दिया है। वह कथास्थितियों, प्रतीकों और संवेदनशीलता में घुल गई है, फिर भी दार्शनिकता सर्वथा अनचीन्ही न रह जाए, इसलिए उसके संबंध में लेखक ने एकाध स्थान पर संकेत कर दिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में मुक्ति की तलाश में असफल हुए व्यक्ति की यंत्रणा अंकित की गई है। कश्मीर के शासन को त्याग कर आया कालिदास कहता है : 'सत्ता और प्रभुसत्ता का मोह छूट गया है। आज मैं उस सबसे मुक्त हूं जो वर्षों से मुझे कसता रहा है। काश्मीर में लोग समझते हैं कि मैंने संन्यास ले लिया है परंतु मैंने संन्यास नहीं लिया है। मैं केवल मातृगुप्त के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ...।' उसका मन मुक्ति के लिए पहली बार तब व्याकुल हुआ जब कश्मीर जाते समय अपने गांव से गुजरते हुए उसने अपने आगमन पर लोगों को उत्सव मनाते देखा था। 'परंतु उस समय मुक्त होना संभव नहीं था।' मुक्त होना क्या कभी संभव है? 'आषाढ़ का एक दिन' से नहीं, '**आधे-अधूरे**' से भी यही उत्तर मिलता है कि मुक्ति दुर्लभ है।

मुक्ति के समान ही वरण की स्वतंत्रता भी सुलभ नहीं है। स्त्री जगमोहन से कहती है : 'मैंने...कल एक फैसला कर लिया है मन में।... वैसे उन दिनों भी सुनी होगी तुमने ऐसी बात मेरे मुंह से...पर इस बार सचमुच कर लिया है?' थोड़ी देर बाद ही स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे फैसले रखे ही रह जाते हैं क्योंकि मनुष्य वरण की स्वतंत्रता से वंचित है। स्त्री को इस वास्तविकता से अवगत कराता हुआ जुनेजा कहता है : 'फिर भी तुम्हें लग रहा

है कि तुम चुनाव कर सकती हो। लेकिन दाएँ से हटकर बाएँ, सामने से हटकर पीछे, इस कोने से हट कर उस कोने–क्या सचमुच कहीं कोई चुनाव नज़र आया है तुम्हें।' जगमोहन ने भी कभी स्त्री से कहा था : 'सोचने से कुछ होना हो, तब तो सोचे भी आदमी।' 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास 'इच्छा के साथ समय का द्वंद्व' देखकर उसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि 'समय अधिक शक्तिशाली है...क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।' **आधे-अधूरे**' का जगमोहन भी इस सचाई से परिचित है, इसलिए वह कहता है : 'कल और आज में फर्क होता है।' 'कल और आज' का यह फ़र्क ही नंद से निर्णय की स्वतंत्रता छीन लेता है।

मनुष्य की स्वतंत्रता का हनन सबसे अधिक मृत्यु के हाथों होता है। इसीलिए 'लहरों के राजहंस' में कमलताल की लहरों पर उतरती हुई छाया को देखकर श्यामांग 'प्रकाश की एक किरण, केवल एक किरण' के लिए चिल्लाता रहता है और व्याघ्र के साथ द्वंद्व में क्षत-विक्षत नंद को लगता है : 'मैं चौराहे पर खड़ा एक नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है और अपने को ढकने के लिए उसके पास कोई आवरण नहीं है।' वह मानता है कि 'जिए जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। कि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के अनंत विस्तार में निमेष और उन्मेष दोनों अस्थाई हैं, सुख सुख नहीं है, काई पर फिसलते हुए पांव का एक स्पंदन मात्र है, मात्र रेत में डूबती हुई बूंद की अकुलाहट...।' फिर भी अस्तित्व को निरर्थक मानने के पक्ष में वह नही है, इसलिए पूछता है : 'परंतु वह स्पंदन, वह अकुलाहट क्या जीवन का पूरा अर्थ, जी लेने का कुल पुरस्कार नहीं है?' ऐसा है, तभी तो वह मानता है : 'मन में मृत्यु का भय है...किसी भी प्रकार की मृत्यु का ....परंतु उस भय के साथ एक आकर्षण भर दिया गया है। अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच मेरी चेतना को एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया गया है।' अस्तित्व की यातना की संकल्पनात्मक परिणति राकेश के जीवन में दर्शन को एक स्वस्थ धरातल प्रदान करती है : 'लगता है अभी और लड़ना है, बहुत लड़ना है...ऐसे किसी से जिसके पास लड़ने के लिए भुजाएँ नहीं है।' नंद भले ही निर्णय न ले पाए, लेकिन वह गौतम बुद्ध के मृत्युसंवेदित वैराग्यधर्म की ऋणात्मकता के विरुद्ध जीवन लालसा के द्वंद्व को पूरी प्रखरता के साथ उजागर करता है।

अस्तित्व की यातना को यथार्थ के धरातल पर उतारने के लिए राकेश ने मनोविज्ञान की सहायता ली है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास की बेचैनी का कारण अनुरक्ति और महत्वाकांक्षा के द्वंद्व में निहित है–पारिभाषिक शब्दावली में उसका कारण अहं और राग के मध्य विरोध है। कालिदास को अपनी अहंजनित दुर्बलता का पता था–इसलिए वह उज्जयिनी के निमंत्रण को स्वीकार करने में हिचक रहा था : 'मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा

और सम्मान के वातावरण में आकर मैं कैसा अनुभव करूँगा? मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा...और यह आशंका निराधार नहीं थी।' यह बात उस समय प्रमाणित हो जाती है जब कालिदास मल्लिका के सामने अपनी मनोग्रंथि खोलता है : 'तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं कश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की यह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशोध लेने की भावना भी थी जिन्होंने अब तक मेरी भर्त्सना की थी, मेरा उपहास उड़ाया था।' लेकिन उसने अहं की तुष्टि अनुरक्ति का मूल्य चुका कर की थी और इस अपराध की चेतना उसके मन के किसी न किसी कोने में बराबर बनी हुई थी। इसी अपराध चेतना का परिणाम था कि वह कश्मीर जाते समय अपने गाँव से होकर नहीं गुजरना चाहता था, उधर से गुजरा तो जिन्होंने उसके गाँव आने से अपने को उपकृत माना उनसे उसे वितृष्णा हुई और वह मल्लिका से मिलने का साहस नहीं कर सका। कश्मीर से लौट कर उसने मल्लिका को यही बतलाया : 'कश्मीर जाते हुए मैं यहाँ से होकर नहीं जाना चाहता था। मुझे लगता था कि यह प्रदेश, यहां की पर्वतश्रृंखला और उपत्यकाएँ मेरे सामने एक मूक प्रश्न का रूप ले लेंगी। फिर भी लोभ का संवरण नहीं हुआ। परंतु इस बार यहां आकर मैं सुखी नहीं हुआ। मुझे अपने से वितृष्णा हुई। उनसे भी वितृष्णा हुई जिन्होंने मेरे आने के दिन को उत्सव की तरह माना !... मैं तब तुमसे मिलने के लिए नहीं आया क्योंकि भय था तुम्हारी आँखें मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देंगी।' 'लहरों के राजहंस' में मनोवैज्ञानिक अवधान का केंद्र सुंदरी है जहां उसके अहं की टक्कर निरंतर विपरीत परिस्थितियों से होती रहती है। '**आधे-अधूरे**' में आकर राकेश ने पहली बार नायक और नायिका दोनों की मनोवैज्ञानिक जटिलता उद्घाटित की है–यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि '**आधे-अधूरे**' के मनोविज्ञान पर जो प्रकाश डाला गया है उसमें वस्तुसत्य कितना है, क्योंकि दोनों पात्रों का मनोविज्ञान आरोप-प्रत्यारोप के रूप में सामने आया है, उसमें किसी न किसी अंश में पूर्वग्रह होना अपरिहार्य है। उसका नायक अपनी पत्नी के शब्दों में 'सिर्फ दूसरों के खाली खाने भरने की चीज़ है', अपने आप में 'वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है'–वह व्यक्तित्वहीन व्यक्ति है, जिसमें आत्मचेतना का नाम भी नहीं है। दूसरी ओर उसकी पत्नी आत्मचेतना के अतिरेक से पीड़ित है। उसकी अतिरंजित अपेक्षाएँ ही उसे कभी तृप्ति का अनुभव नहीं होने देतीं। इसीलिए जुनेजा के अनुसार उसे अपना पति महेंद्र ही नहीं, अपने जीवन में आनेवाला प्रत्येक पुरुष आधा अधूरा प्रतीत होता है। इस नाटक की मनोवैज्ञानिक चेतना विशेष रूप से प्रखर है। सिंघानिया का आत्मकेंद्रित व्यक्तित्व और जगमोहन का मिष्टभाषी काइयांपन ही नहीं,

लड़के का पिता से तादात्म्य भी राकेश की मनोवैज्ञानिक अभिरुचि के विकास की ओर संकेत करता है।

अस्तित्व की यातना और मनोवैज्ञानिक सजगता के बीच मोहन राकेश ने हास्य के लिए भी अवकाश निकाल लिया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में हास्य की सृष्टि आयास-पूर्वक की गई है। इस नाटक में पात्रों के दो जोड़े हास्य की सृष्टि के लिए ही रखे गए हैं। अनुस्वार और अनुनासिक तथा रंगिणी और संगिनी हास्य की सृष्टि के प्रयोजन से ही मंच पर उतारे गए हैं। अनुस्वार और अनुनासिक मुख्य रूप से विदूषक हैं। नाटक में उनको रखने का औचित्य मल्लिका से कहे गए प्रियंगुमंजरी के शब्दों में इस प्रकार सिद्ध किया गया है : 'तुम उनमें से जिसे भी अपने योग्य समझो, उसी के साथ तुम्हारे विवाह का प्रबंध किया जा सकता है।' लेकिन इसके लिए उन्हें मंच पर लाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, विशेष रूप से उस स्थिति में जब प्रियंगुमंजरी को एक क्षण बाद ही यह कहना पड़ा हो : 'परंतु राज्य मे दो ही नहीं, और भी अनेक अधिकारी हैं। मेरे साथ चलो। तुम जिससे भी चाहोगी...।' स्पष्ट है कि उनसे मल्लिका के विवाह का प्रयोजन तो एक बहाना है, वास्तव में वे हास्य की सृष्टि के लिए नाटक में रखे गए हैं। उनकी तुलना में रंगिणी-संगिनी की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक गंभीर अभिप्रायों की वाहक है। अनुसंधान के नाम पर चल रहे कार्य का खोखलापन उनके संवादों में मूर्त हो उठा है। उनकी उक्तियों में चुभता हुआ व्यंग्य है, यह बात अलग है कि उनकी भूमिका भी नाटक के घटनाक्रम की मुख्य धारा का अंग नहीं बन सकी। इसके विपरीत मातुल पर बड़प्पन की मार और दार्शनिक मुद्रा का अटपटापन हास्य के लिए अधिक स्वाभाविक है। इस नाटक की तुलना में 'लहरों के राजहंस' का हास्य अधिक सहज और मार्मिक है और उसकी मात्रा भी पहले नाटक की तुलना में बहुत कम है। श्यामांग के रूप में अंतर्मुख चिंतन में खोए भावुक व्यक्ति का मन अपने आप में उलझकर किसी काम का नहीं रह जाता और इस विडंबना पर सुंदरी का वाक्यप्रहार वेदनासंवलित गंभीर और संयत हास्य की सृष्टि करता है : 'तुम खड़े खड़े सोच क्या रहे हो? कि आग काठ के अदंर है या बाहर?' इसी प्रकार 'खड़े खड़े क्या सोच रहे हो? 'कि डोरियां पत्तियों में उलझी हैं या पत्तियां डोरियों में?' अनोखा लोकविश्वास भी सुंदरी के इस कथन में हास्य का उपकरण बनकर व्यक्ति हुआ है : 'पता है लोग क्या कहते हैं?...आपका ब्याह एक यक्षिणी से हुआ है जो हर समय आपको अपने जादू से चलाती है।' इस नाटक में हास्य पात्रनिर्भर नहीं, स्थितिनिर्भर है। '**आधे-अधूरे**' में हास्य फिर पात्रनिर्भर हो गया है, लेकिन इस बार उसके लिए विदूषक का सहारा नहीं लिया गया। सिंघानिया अपने आभिजात्याभिमान की त्रासदी में हास्यास्पद बना है।

'आषाढ़ का एक दिन' से आरंभ होकर '**आधे-अधूरे**' तक राकेश के नाटकों में हास्य-संवेदना निश्चित रूप से विकसित हुई है। अपने पहले नाटक में उन्होंने हास्य का उपयोग मंचीय सफलता के संबंध में आश्वस्त होने के लिए एक मसाले के रूप में किया है, लेकिन आत्मविश्वास प्राप्त होते ही उन्होंने हास्य की सृष्टि अधिक परिमार्जित रूप में की है। अपने दूसरे और तीसरे नाटक में वे गंभीरतर परिस्थितियों में हास्य के दर्शन कर सके हैं। 'लहरों के राजहंस' और '**आधे-अधूरे**' में राकेश का हास्यबोध उस बिंदु पर पहुंच गया है जहाँ करुण और हास्य के विरोधी छोर परस्पर मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

समय के साथ जीवन के दंश की अनुभूति राकेश के नाटकों में बराबर बढ़ती गई है। पहले नाटक के आरंभ में मल्लिका जीवन के कटु अनुभवों से सर्वथा अछूती है, कटुता और तनाव उसके जीवन में आगे चलकर आते हैं। दूसरे नाटक में आरंभ से ही अवसाद की छाया नाटक पर पड़ी रहती है। भोगवाद के प्रति सुंदरी का आग्रह अवसाद से घिर कर ही व्यक्त हुआ है। तीसरा नाटक तो आरंभ से अंत तक तनाव से भरा हुआ है--यहां तक कि हास्य भी उस तनाव का अंग बन कर व्यक्त हुआ है।

दंश की यह अनुभूति नाटकीय विडंबना (ड्रैमेटिक आइरनी) के प्रयोग द्वारा और तीखी बना दी गई है। आकस्मिकता का नाटकीय प्रयोग नियति के समक्ष मनुष्य की विवशता को उघाड़कर रख देता है। 'आषाढ़ का एक दिन' में जैसे ही कालिदास मल्लिका से यह प्रस्ताव करता है कि 'हम फिर से अथ से आरंभ कर सकते हैं' वैसे ही अंदर से बच्ची के कुनमुनाने और रोने का स्वर सुनाई देता है, जो फिर से अथ से आरंभ करने की उसकी इच्छा का उपहास करता प्रतीत होता है। उसे समय की गति के सामने अपनी पराजय स्वीकार करनी होती है। जैसे ही वह यह पराजय स्वीकार करते हुए कहता है : 'समय अधिक शक्तिशाली है' वैसे ही 'फिर अंदर से बच्चे के रोने का एक शब्द सुनाई देता है' जो मानो उस समय की शक्ति के समक्ष कालिदास के आत्मसमर्पण पर अपनी मुहर लगा रहा हो। '**आधे-अधूरे** में भी त्रासदी का स्रोत नियति के हाथों मनुष्य की इच्छा के पराभव में निहित है। यह पराभव भी राकेश ने नाटकीय विडंबना के सहारे अंकित किया है। जुनेजा कहता है : 'मुझे पता है कि कितना मुश्किल होगा यह, फिर भी यह बात उसके दिमाग में बिठाकर रहूंगा इस बार कि...।' वह अपने संकल्प को पूरी तरह व्यक्त भी नहीं कर पाता कि महेंद्र घर लौटता दिखलाई देता है और उसका इस प्रकार एकाएक लौट आना जुनेजा के संकल्प पर पानी फेर देता है। इन दोनों नाटकों की तुलना में 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी की इच्छाशक्ति बहुत प्रबल है, लेकिन वह जितनी प्रबल है उतनी ही भारी मार उस पर विपरीत परिस्थिति की पड़ती है और उतनी ही बारीकी से नियति ने उस पर चुटकियां ली हैं। यशोधरा के संन्यासग्रहण का उपहास करने के लिए सुंदरी ने उसकी पूर्वसंध्या को कामोत्सव का आयोजन किया था, किंतु वह स्वयं नियति के

उपहास का पात्र बन गई है जब उसके उत्सव में सम्मिलित होने के लिए कोई नहीं आया। तभी कुछ लोगों के आने की आहट सुनाई देती है जिससे लगता है कि कोई आ रहा है, किंतु यह उत्सुकता तुरंत निराशा में बदल जाती है जब आने वाला और कोई नहीं, घर के कर्मचारी निकलते हैं। आयोजन के लिए कृतसंकल्प सुंदरी के कामोत्सव का आयोजन जब अतिथियों के न आने पर व्यर्थ हो जाता है तभी शशांक के इस वाक्य के रूप में मानो नियति उसके दर्प पर मुस्कराने लगती है : 'अथितियों के बैठने की सारी व्यवस्था हो गई है, कुमार! देवी के आदेशानुसार उद्यान के एक एक वृक्ष कै नीचे...।' संकल्पशक्ति की अद्वितीय दृढ़ता नियति का खिलवाड़ बन गई है।

हो सकता है कि राकेश का यह जीवनदर्शन अग्राह्य प्रतीत हो क्योंकि इसमें नियति की क्रूरता के समक्ष मनुष्य को अत्यंत विवश बतलाया गया है। उसमें मनुष्य की इच्छा ही नहीं, उसके प्रयत्नों के प्रति भी अविश्वास का स्वर सुनाई देता है। इस दृष्टि से राकेश के नाटक निराशावादी दिखलाई देते हैं।

लेकिन दृष्टिकोण की स्वतंत्रता कलाकार का अपना अधिकार है। इसलिए कला की समीक्षा के लिए उसे आधार बनाना उचित नहीं है। मुख्य बात है सर्जनात्मक उपलब्धि की। इसमें संदेह के लिए कोई गुंजाइश नहीं कि राकेश ने हिंदी नाटक को एक निश्चित मोड़ दिया है। 'प्रसाद के नाटक साहित्यिक दृष्टि से कितने ही उत्कृष्ट रहे हों, रंगमंच के लिए चुनौती ही थे। इसके बाद जो नाटक लिखे गए उनमें उठाए गए प्रश्न और उनका विश्लेषण बहुत बनावटी था। राकेश ने हिंदी नाटक की साहित्यिकता को मंचचेतना से संपृक्त कर उसे पहली बार सार्थकता प्रदान की है।

7. अंधा युग : एक समीक्षा

गजानन माधव मुक्तिबोध

स्वाधीनता-संघर्ष के बाद, दुनिया में एक ओर भारत की प्रतिष्ठा बढ़ती गयी, तो दूसरी ओर, घर में सामाजिक ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगे। इस सामाजिक ह्रास के कई लक्षणों में से एक है चरित्र के क्षेत्र में व्यक्तिगत धरातल पर नैतिक भावना और व्यवहार की बढ़ती हुई कमज़ोरी। इन कमज़ोरियों के सामाजिक परिवेश में व्यक्ति के संवेदनात्मक आघात-प्रत्याघात अपना एक इतिहास बनाने लगे। कुछ लोगों को यह नई सामाजिक परिस्थिति अत्यंत सुविधाजनक प्रतीत हुई। एक विशेष प्रकार के चरित्र के लोग, आवश्यक मनोवैज्ञानिक उपादान जिनके पास थे ही, साथ ही, प्रस्तुत सामाजिक परिवेश, सामग्री और साधन (भी थे।) चरित्र की अन्य शैली के लोग इस ह्रासग्रस्त परिवेश से अपना सामंजस्य स्थापित न कर सके। वे उन्नति की ओर नहीं प्रगति की ओर बढ़े।

प्रगति की ओर उनकी उन्मुखता ने कई रूप लिए। सामाजिक परिवेश में परिवर्तन सभी का अभीष्ट था। किंतु प्रगति क्या? उसके आदर्श क्या हैं? आदि-आदि बातों पर अलग-अलग रास्ते अपनाए गए। इन अलग-अलग रास्तों के आपसी झगड़े महत्वपूर्ण हैं, किंतु वे इस लेख के क्षेत्र के बाहर हैं।

एक बात सर्व-सामान्य है। वह यह कि सामाजिक ह्रास आज के युग की एक महत्वपूर्ण वास्तविकता है। इस वास्तविकता की कुछ विशेषताओं को एक फैण्टेसी के ज़रिए श्री धर्मवीर भारती ने पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

इस फ़ैण्टेसी का भावनात्मक केंद्र है मौजूदा सभ्यता (यह शब्द भारी-भरकम है, इसलिए यथार्थ कहिए) की समीक्षा जो महाभारत काल के कुछ चरित्रों के अंकन के द्वारा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार के प्रयत्न के दो पहलू ध्यान में रखने लायक हैं। एक, चरित्रों के आघात-प्रत्याघात द्वारा जो मानव-दृश्य उपस्थित किया गया है, वह दृश्य और उसकी प्रभावकारिता। दूसरे यह कि इस दृश्य द्वारा सभ्यता की जो आलोचना की गई है उसके सही या गलत होने की स्थिति। इन पहलुओं का आपसी संबंध द्रष्टव्य है।

कुल मिलाकर, जो दृश्य उपस्थित किया गया है उसका मूल भावना-केंद्र सभ्यता की आलोचना है। **उत्तररामचरित** के समान, या शेक्सपीयर की किसी ट्रैजेडी की भाँति, यदि उस दृश्य के मूल में आलोचनात्मक भावना न रहकर कोई और भावना रहती, तो उस दृश्य की प्रभावकारिता तथा उस समस्त दृश्य के अंग-रूप पात्रों के सौंदर्य के विशेष विश्लेषण से ही काम चल जाता। **अंधा युग** उस ढंग से चरित्र-प्रधान नहीं है, जैसे कि अन्य नाटक हुआ करते हैं। उसमें चरित्र का कोई विकास नहीं है, वे बने-बनाए हैं। उनका महत्व और मूल्य यही है कि वे लेखक के भाव, विचार और भाषा बोलते हैं, तथा तिगड्डों पर खड़े होकर उन तिगड्डों की स्थितियों की दृष्टि से एक यथार्थ के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं। लेखक द्वारा यथार्थ के आकलन के चरित्र के वे विभिन्न प्रतीक हैं; उसकी दृष्टि और वाणी प्रकट करने के साधन हैं। इस दृष्टि से, यह दृश्य-काव्य आत्मपरक है, 'सब्जेक्टिव' है।

और उसकी यह सब्जेक्टीविटी आज की पीढ़ी का एक मूड बताती है और साथ ही एक धारणा भी स्पष्ट करती है। इसलिए वह महत्वपूर्ण हो उठी है। वह मूड वास्तविक है, वह धारणा वास्तविक है।

मूड यह है कि मौजूदा सभ्यता या समाज या यथार्थ -- जैसा कि वह है — से किसी मानव-प्रगति की आशा नहीं की जा सकती। सामाजिक संबंधों के यथार्थ से प्रेरित इस निराशा की भावना की तह में यह धारणा प्रतिष्ठित है कि मौजूदा सभ्यता के मसीहा जिस वर्ग या श्रेणी या तबके से निकले हैं, उनके नेतृत्व में चलने वाली सभ्यता या समाज, कुछ भी कह लीजिए, का नाश अवश्यम्भावी है।

इस मनोवैज्ञानिक केंद्र से विकसित यह फ़ैण्टेसी समाज की जिन विशेषताओं को प्रकट करती है, वे विशेषताएँ महत्वपूर्ण होने के कारण फ़ैण्टेसी और भी महत्वपूर्ण हो उठी है। उसका भावनात्मक आघात अचूक हो गया है। उसका रसात्मक प्रभाव केवल भाव या रस तक ही सीमित न रहकर विचारोत्तेजक बन गया है। दूसरे शब्दों में, भावना की राइफ़ल से विचारों के कारतूस कौंधकर निकल पड़े हैं। इस फ़ैण्टेसी की यह सफलता द्रष्टव्य, विचारणीय और मूल्यवान है।

चूँकि यह मौजूदा समाज की एक ढंग से आलोचना है, इसलिए इस प्रश्न को ठुकराया नहीं जा सकता कि उसकी सीमाएँ और क्षमताएँ क्या हैं, यानी प्रस्तुत आलोचना की पर्यालोचना आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

पहली बात जो बार-बार दिमाग़ से टकराती है, वह यह है कि श्री भारती ह्रास के लक्षणों को उसके कारणों से कन्फ़्यूज़ कर देते हैं। नैतिक गिरावट स्वयं एक लक्षण है, जो अन्य घटना-क्रमों या अन्य मानसिक विकार-दृश्यों का कारण हो सकती है। किंतु इस गिरावट

का कारण व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक है या ऐतिहासिक-समाजशास्त्रीय? इस प्रश्न पर या तो श्री भारती ने विचार नहीं किया, या विचार करके उसे छोड़ दिया, उसकी तह में नहीं गए। स्पष्ट रूप से कहा जाए तो श्री भारती सभ्यता की आलोचना तो करते हैं, किंतु समाजशास्त्रीय जिज्ञासा के अभाव के शिकार होकर। सभ्यता का ह्रास संवेदनात्मक रूप से अनुभव करते हैं; उसे प्रकट करने के लिए उन्हें आलोचना की शरण लेनी ही पड़ती है। किंतु उनकी आलोचना केवल व्यक्तित्व और व्यक्ति-मानव की शुभेच्छात्मक संवेदनाओं के नैतिक दृष्टिकोण को त्याग नहीं पाती। यह प्रकट करता है कि श्री भारती का वैचारिक अंतरंग छायावादी है। सभ्यता या समाज अनेक श्रेणियों में सूत्रबद्ध मानव का समुदाय है, जिसके भीतर एक ढाँचा है। उस ढाँचे का एक इतिहास है। इस इतिहास में एक विकास सूत्र है। इस विकास सूत्र के कुछ नियम हैं। इन नियमों के प्रति सच्ची समाजशास्त्रीय जिज्ञासा आवश्यक है। श्री भारती के पूरे मनोलोक में समाजशास्त्रीय जिज्ञासा का नितांत अभाव है। इस अभाव पर हमें खेद है। खेद इसलिए कि सभ्यता और समाज की प्रचण्ड उपस्थिति श्री भारती के मन में होते हुए भी, वे उस सभ्यता और समाज के स्वरूप के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि से सोचने के लिए तत्पर नहीं हैं, जबकि आज विज्ञान किसी भी फ़िलॉसॅफ़ी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हो उठा है।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि प्रस्तुत फ़ैण्टेसी यथार्थ की कुछ प्रमुख विशेषताओं को रूपक से प्रकट करती है। यदि श्री भारती में यह समाजशास्त्रीय जिज्ञासा होती, तो इस फ़ैण्टेसी का रूपायन किसी और ढंग से होता, और उसका मूल्य और भी बढ़ जाता।

फिर भी, श्री भारती ने अपनी फ़ैण्टेसी के अंतर्गत व्यक्तियों द्वारा उभारे गए (उन्हीं के शब्दों में) जिन निष्क्रिय सत्यों, तटस्थ सत्यों और अर्ध-सत्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है, वे सत्याणु, वस्तुतः, कुछ प्रवृत्तियाँ सूचित करते हैं - ऐसी प्रवृत्तियाँ जो संस्कृति और समाज के नेतृ-वर्ग की हैं।

इस वर्ग के शासन-प्रशासन-अनुशासन में चलने वाली सभ्यता ह्रास-ग्रस्त है। उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। किंतु, सामाजिक रूपांतरों के घटना-क्रम विकसित करने वाली शक्तियाँ कौन-सी हैं, इसका क्रम-उल्लेख प्रस्तुत काव्य में नहीं है। इसका कारण यह है कि लेखक के मनोलोक में ऐसी किन्हीं शक्तियों की स्थिति की जानकारी या ज्ञान-संवेदना का अभाव है। इस अभाव के फलस्वरूप, मानव-सुलभ आशात्मक भविष्यवाद का एकमात्र आधार वे क्षण हैं जहाँ मनुष्य मनुष्य हो जाता है। यह संवेदनात्मक व्यक्ति-मानव अपनी संवेदनाओं के सामान्यीकरण के द्वारा ही मुक्ति और दायित्व (उन्हीं के शब्दों में) के प्रयास करेगा।

श्री भारती को यह जानना चाहिए था कि भिन्न-भिन्न वर्गों में मुक्ति या दायित्व की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। दायित्व की जो कल्पना एक श्रमिक की है, वह धनिक की नहीं। जो मज़दूर की है वह पूँजीपति की नहीं। मौजूदा जनतंत्रात्मक प्रणाली द्वंद्व-प्रणाली है। **कामायनी** में इड़ा अपने आत्मनिवेदन में, रहस्यात्मक शब्दावली में ही क्यों न सही, इसे स्पष्ट रूप से प्रकट करती है। इस द्वंद्व में 'दायित्व' और 'मुक्ति' और 'मर्यादा', यहाँ तक कि 'मानवता' की कल्पना भी भिन्न-भिन्न है।

इसलिए, जिस 'दायित्व' और 'मुक्ति' की कल्पना को सभ्यता के अवलम्ब के रूप में श्री भारती प्रकट करते हैं, वह व्यक्ति-मानव की एक शुभेच्छा में एकरूप, किंतु विभिन्न वर्गावस्थाओं में भिन्न स्वरूप है। श्री भारती का आशात्मक भविष्यवाद एक बहलावा है। वह बहलावा इसलिए है कि उसमें सामाजिक रूपांतर के किसी ठोस वैज्ञानिक आधार का अभाव है।

डॉ. देवराज को **अंधा युग** पढ़कर, **कामायनी** की याद आई। यह स्वाभाविक है, किंतु **अंधा युग** का लेखक दार्शनिक नहीं है। **कामायनी** में विचारों और अनुभवों के सामान्यीकरण का दर्शन है। उसकी आलोचना एक दार्शनिक की समीक्षा-बुद्धि प्रकट करती है।

श्री भारती की आलोचना एक उत्पीड़न-विवेक का विस्फोट है। प्रकृति, दिशा और जीवन-अनुभवों की दृष्टियों से ये दो कवि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों और स्तरों के हैं।

अंधा युग नयी साहित्यिक पीढ़ी का एक अत्यंत मूल्यवान और महत्वपूर्ण प्रयास है - ऐसा प्रयास जिस पर व्यापक बहस होना आवश्यक है। हम इस कृति के लिए श्री भारती का अभिनंदन करते हैं।

8. 'दायित्व गहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे' की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : 'अंधा युग'

निर्मला जैन

'अंधा युग' का रचनाकाल (1954) 'मानव मूल्य और साहित्य' में संकलित लेखों के आसपास का रचनाकाल है। कवि के अनुसार : 'इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है, उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है।' महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक 'प्रख्यात' और 'उत्पाद्य' के मेल से इस काव्य-रूप की प्रसंग व पात्र-योजना की गई है। महाभारत की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का निवेश कुछ प्रत्यक्ष और कुछ परोक्ष रूप में कर लिया गया है। कथानक की घटनाएँ समस्याओं का माध्यम भर हैं क्योंकि उठाया घटनाओं को नहीं समस्याओं को गया है।

'राष्ट्रवाणी' में मानव की धुरीहीनता पर प्रकाशित लेख की भी चिंता यही है। कहने का आशय यह है कि कवि की चिंता द्वापर के बाद अवतरित होते हुए कलियुग की नहीं बल्कि उस अंधे युग की है जो 'बीतता नहीं रह-रहकर दुहराता है'। महत्वपूर्ण वह मानव अवस्थिति है जो समय-समय पर किन्हीं परिस्थितियों में अपने को दोहराती है। यह आकस्मिक नहीं है कि विश्व युद्ध से प्रेरित भारती के समसामयिक अन्य वरिष्ठ/कनिष्ठ कवियों ने भी पीछे मुड़कर महाभारत की ओर ही देखा है। दो-दो भयंकर विश्व-युद्धों का साक्षी कवि अनुभव करता है कि :

'हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अंधियारा गहरा होता जाता है।'

युद्ध है तो प्रश्न है। प्रश्न के अनेक पहलू हैं, आयाम हैं। महाभारत की अंतिम संध्या में उसका प्रतिबिम्ब है। यही उसका देशकालातीत है। समस्या जब देशकालातीत है, तो उसकी विचारणीयता भी क्रमिक है। समय-संदर्भ के अनुरूप अनेक प्रतिप्रश्न हैं। उत्तर की खोज है, और प्रायः आकांक्षित या फिर प्रस्तावित हल भी हैं ही। पर अंत में प्रश्न अपनी जगह वहीं का वहीं है। प्रश्न की भाषा की तुलना में उत्तर की भाषा अधिक बदली है।

'दायित्वगहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे' की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : अंधायुग

नीति/अनीति, मर्यादा/मर्यादाहीनता, उचित/अनुचित, धर्म/अधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का प्रश्न महाभारतकार के सामने न उठा हो, ऐसा तो नहीं है। वहाँ तो प्रश्न युद्धारम्भ में ही प्रस्तुत है पर उस युग का सबसे सबल उत्तर है आस्था। मानव-अस्तित्व का एक सर्वाधिक ठोस आधार - समस्त तर्क-वितर्क की पर्यवसान-भूमि। जीवन के केंद्र से उतर जाने का मतलब है इसी आस्था का शंकास्पद हो जाना। महाभारत-युग के अर्जुन के लिए सभी कर्म (भले ही वह हिंसा हो) कृष्णार्पित कर देना सम्भव था क्योंकि शंका करना वहाँ पाप है। इसके ठीक विपरीत, आधुनिक मानव का अस्तित्व ही शंका-जीवी है। भारत-पाक विभाजन और गांधी की हत्या इसका प्रमाण है।

'अंधा युग ' की संरचना का मूल यही शंकास्पद मानसिकता है। दो महायुद्धों के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घटित मूल्य-विनाश वैचारिक स्तर पर जिस सर्वनिषेधवाद और नैराश्यजनक मानसिकता को जन्म देता है उसी का एक लघु-संस्करण भारत में राजनीतिक फेरबदल के निजी एवं तात्कालिक संदर्भ में घटित होता दिखाई पड़ता है।

आस्था का आधार लुप्त हो गया है यह वस्तुस्थिति है और उसे देखने वाली दृष्टियाँ अंधी हो गई हैं - यह आत्मस्थिति। गांधी की मृत्यु पर नेहरू की प्रतिक्रिया 'द लाइट इज़ गान.... ' इसी सत्य को व्यंजित करती है। मूल्य-संकट से उत्पन्न यह आपात स्थिति सम्वेदनशील कवि के सामने दूसरा असमंजस उपस्थित करती है : 'दायित्व गहन, भाषा अपूर्ण, श्रोता अंधे / पर सत्य वही देगा उनको संकट क्षण में।' यह बात अलग है कि वह भी 'इस मोहनिशा से घिर कर / है भटक रहा / जाने किस कंटक-पथ पर।' वह प्रतिबद्ध है - 'सत्य कितना कटु हो / कटु से कटुतर हो / कटुतर से कटुतम हो / फिर भी कहूँगा मैं।' किंतु समस्या अपनी जगह है 'लेकिन आज अंतिम पराजय के अनुभव ने / जैसे प्रकृति ही बदल दी है सत्य की / आज कैसे वही शब्द / वाहक बनेंगे इस नूतन अनुभूति के? ' यानी समस्या दुहरी है - पहली सत्य की प्रकृति के बदल जाने की और दूसरी बदली हुई प्रकृति के अनुरूप भाषा की अपर्याप्तता के एहसास की।

'अंधा युग' की मुख्य कथा इस प्रकार मूल्यों की विकृति या मूल्यहीनता की है। पूरा प्रश्न जिस ढाँचे में उठाया गया है, वह अस्तित्ववादी विचारधारा का है। युद्ध की स्थिति इसका विभावन-व्यापार (ओब्जेक्टिव कोरिलेटिव) है। यह युद्ध महाभारत हो सकता था, कोई और हो सकता था। जो वस्तुगत ढाँचा मनुष्य के विवेक, नीति, मर्यादा, आस्था आदि के लिए चुनौती प्रस्तुत कर दे, वही कवि के लिए ग्राह्य है। महाभारत के युद्ध से जीवन की चरम स्थितियों (हत्या/आत्महत्या/सामूहिक हत्या) के समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश है। इन्हीं स्थितियों के माध्यम से 'अंधा युग' में दर्शन का रूप निखरता है।

कथानक-संरचना इस रूप में की गई है कि ये तमाम स्थितियाँ 'अंधा युग' के कथानक को उसकी चरम स्थिति 'प्रभु की मृत्यु' की ओर बढ़ाती हैं। आस्था के आधार कृष्ण की मृत्यु का परिणाम है 'प्रभुहीन धरा पर आस्थाहत / कलियुग ने धरा प्रथम चरण।' प्रश्न तो इस घटना से पहले भी बहुत से हैं, किंतु वास्तविक समस्या तो कलियुग के आरम्भ से सम्बद्ध है। एक ओर प्रभु की मृत्यु का प्रतीकात्मक प्रतिफलन है कि 'हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं' और दूसरी ओर प्रेतात्मा युयुत्सु का विश्वास है 'नियति है बँधी हमारी / प्रभु के मरण से नहीं / मानव भविष्य से ।' स्वयं प्रभु का संदेश है 'मरण नहीं है जो व्याध / मात्र रूपांतरण है वह.....' और इसके उपरांत अस्तित्ववाद की शब्दावली में 'दंडित मुक्त' अश्वत्थामा, और प्रेत-रूप युयुत्सु 'दायित्व युक्त मर्यादित आचरण' का संदेश ग्रहण करते हैं। प्रभु-वचन के स्वीकार के लिए आस्था अनिवार्य है और आस्था की उपलब्धि के लिए व्यक्ति-स्वातंत्र्य। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की इस शर्त को अश्वत्थामा दंड रूप में ग्रहण करता है : 'मैं हूँ दंडित / लेकिन मुक्त हूँ।' मुक्ति दंड है क्योंकि वह 'मर्यादायुक्त आचरण' का दायित्व है, अमर्यादित स्वेच्छाचार का भोग नहीं। प्रभु की मृत्यु के बाद अपना दायित्व प्रभु को सौंप कर मुक्तता के अनुभव का विकल्प भी समाप्त हो गया। जिस युग ने प्रभु की हत्या की है उस आस्थाहीन प्रभुहीन युग में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना दायित्व वहन करने के लिए विवश है, अभिशप्त है। आस्था का आधार उसके लिए अब न ईश्वर है न धर्म, बल्कि अपना विवेक है। इसीलिए 'वे हैं भविष्य / किंतु हाथ में तुम्हारे हैं।' भविष्य की यह साधना कर्म-निर्भर है अन्यथा दिव्य दृष्टि सम्पन्न संजय भी 'कर्म से पृथक क्रमशः अपने अस्तित्व का अर्थ' खोता जाता है। उसकी विडम्बना यही है कि 'जीवन भर रहा मैं निरपेक्ष सत्य। कर्म में उतरा नहीं'।

'अंधा युग' की 'लोक-सम्पृक्ति' 'समूचे कथानक और प्रेरणा' को समसामयिक आलोचकों ने प्रायः यथार्थधर्मी कहा है। कवि के वक्तव्य के अनुसार भी 'कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अंधापन' -- इन सबने उसे निडर धँसकर छिपे हुए सत्य के दुर्लभ कणों को ढूँढ निकालने के लिए आमंत्रित किया है। जाहिर है उसमें इस तमाम विकृति में धँसने का उत्साह है, आवेग है, सबकी वेदना भोगने और सत्य को पाने का भ्रम और एहसास भी है, और इस सत्य को बाँटने का हौसला भी। 'अंधा युग' की तात्कालिक प्रभावात्मकता और लोकप्रियता का एक बड़ा कारण युग-स्थिति के प्रति कवि का यह आवेगमय रुझान है।

नाटककार ने स्वयं रंगमंच संबंधी 'निर्देश' देते हुए 'अंधा युग' को 'दृश्य-काव्य' कहा है। रंग-निर्देश जितने विस्तार से दिए गए हैं, उससे स्पष्ट है कि इसकी रचना रंगमंच/रेडियो पर प्रस्तुति के लिए की गई है। महाभारत का कथानक अनेक सजीव एवं सशक्त प्रसंगों का कोश है। 'अंधा युग' में विचाराधीन प्रश्नों के लिए ऐसी अनेक घटनाएँ प्रासंगिक हैं :

जिनमें कार्य-व्यापार-संकुलता एवं गति हो। दुर्योधन एवं भीम का युद्ध, अश्वत्थामा द्वारा पांडव शिविर का ध्वंस, अर्जुन एवं अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र प्रयोग, धृतराष्ट्र-गांधारी, कुंती का दावाग्नि में जलना, पांडवों का हिमालय प्रस्थान, कृष्ण की मृत्यु (जो इस कृति की चरम घटना भी है) आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रसंग इस नाटक में उपस्थित हैं - और इस सबके बीच है विचारात्मक ऊहापोह। विडम्बना यह है कि युद्ध-संबंधी इस नाटक में एक भी युद्ध रंगमंच पर घटित नहीं होता। नाटककार को सुविधा है -- दिव्य-दृष्टि सम्पन्न एक ऐसे पात्र की योजना की जो परम्परानुमोदित भी है। यह पात्र संजय है। समूचे कथानक में घटनाओं को शब्द-चित्रों में साकार करके प्रस्तुत करते रहने का दायित्व उसी पर है। और इसीलिए शंका, संदेह, मूल्य-विकृति के भयावह माहौल में उपयुक्त शब्द-माध्यम खोजने की पीड़ामय अनुभूति भी उसी की है। पीड़ा इसलिए कि वह सत्य कहने के लिए प्रतिबद्ध है। यह बात अलग है कि वस्तुस्थिति के दबाव से सत्य की परिभाषा बदल गई है और इस बदली हुई परिभाषा के लिए सही भाषा की तलाश ही समसामयिक लेखक की भी सबसे बड़ी पीड़ा है। नाटककार इसी 'तटस्थद्रष्टा', 'शब्द-शिल्पी' के माध्यम से अधिकांश घटनाओं को सूच्य बनाकर प्रस्तुत करता है और अभिनय संबंधी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों से बचाव का मार्ग ढूँढ लेता है। जहाँ संजय की भूमिका नाकाफी होने लगती है वहाँ वह 'कथा-गायन' की योजना से काम लेता है या फिर प्रहरी, विगत या अनागत प्रसंगों पर टिप्पणी करके या उनका पूर्वाभास देते हुए सूत्रों को जोड़ते चलते हैं।

इस नाटक की सबसे बड़ी खूबी है वाच्य से दृश्य का प्रभाव उत्पन्न करना। कथा न कहीं रुकती है न ठिठकती है। कृष्ण की मृत्यु के प्रसंग तक घटनाएँ तीर की तरह बढ़ती चली जाती हैं। कार्य-व्यापार की अनुपस्थिति को अश्वत्थामा के चरित्र की गत्यात्मकता ने और गांधारी की तर्क-कर्कशता ने काफी दूर तक भरा है। पाँच दृश्यों में विभाजित इस काव्य-रूपक में किसी भी सफल नाटक के अनुरूप-स्थापना-अंतराल एवं समापन किया गया है। भारती ने काव्य के उपकरणों से नाटक के उपकरणों का काम लिया है। वर्णनों की चित्रात्मकता इसका प्रमाण है।

इसी कारण एक बार 'अंधा युग' को एक साथ श्रेष्ठ काव्य और समर्थ नाटक कहकर दोनों तत्वों में परस्पर पोषण का गुण देखने वाले आलोचकों को दूसरी बार उसमें वस्तु योजना और रंग-विधान की पारस्परिक असंगति का भ्रम होने लगता है : 'उसकी रचना के नाटकीय अंकों में कथा का फैलाव है, घटना-स्थलों में विलगाव है, कई धरातलों की विचारधारा का ऊहापोह है। इसी सबके बीच पात्र स्वगत और अर्ध-स्वगत कथनों में युद्ध के धर्म-अधर्म पक्षों पर व्याख्याएँ करते हुए आते-जाते हैं। इस सबको समेकित करने का एकमात्र साधन कथा गायन रखा गया है। वही अंकों की कथा को समेटता है, वही

घटनास्थलों को अन्विति देता है : किंतु नाटक की धर्मिताओं को वह शक्ति नहीं देता, शायद उनको दुर्बल ही करता है....

जिसे सुरेश अवस्थी फैलाव और विलगाव कहते हैं उसे भारती ने बड़े कौशल से 'समेकित' किया है। केवल कथा-गायन के द्वारा नहीं, संजय के वर्णनों के और प्रहरियों के बीच सम्वाद के माध्यम से भी नाटक की घटनाओं में तीव्रता आती है। संकलनत्रय का निर्वाह होता है। दृश्यों के भीतर दृश्य-योजना करने पर भी अभिनय की व्यावहारिकता के प्रति पूर्ण सजगता है। युद्ध के दौरान और युद्ध के उपरांत मूल्य संकट और मूल्य-विघटन की जिस मानव-अवस्थिति को लेखक ने उठाया है उसकी बहुआयामी प्रस्तुति के लिए स्वीकृत विभावन व्यापार सर्वथा संगत है। नाटक की स्थितियों के बीच जिस वैचारिक ऊहापोह की चर्चा सुरेश अवस्थी ने की है उसमें नाटकीयता वहीं तक है जहाँ तक ऊहापोह है। कृष्ण की मृत्यु की घटना के साथ यह ऊहापोह समाप्त हो जाता है। रह जाती है केवल विचारधारा। जिस अलौकिक, तर्कातीत, आस्थावाद के विरोध में सारी तर्कशीलता, सारा विरोध द्वंद्वात्मक/नाटकीय रूप धारण करता है, उसी अलौकिक, तर्कमुक्त आस्था की युक्ति से विरोध का शमन किया जाता है। यही इस नाटक की सबसे बड़ी विडम्बना और असंगति है। आकस्मिक नहीं है कि इसकी अधिकांश रंगमंचीय प्रस्तुतियों का अंत कृष्ण की मृत्यु के उपरांत की घटनाओं को शीघ्रता से समेकित करके किया जाता रहा है। वस्तुतः अंत में वृद्ध याचक के माध्यम से अस्तित्ववादी भाषा में प्रसारित संदेश नाटक की तार्किक नहीं आरोपित परिणति प्रतीत होता है। शायद सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त मूल्य-संकट के बोध के प्रति थिराए हुए विवेक के बजाय जो विस्फोटक आवेग दिखाई पड़ता है उसका यही अतार्किक अंत हो सकता था। आवेग का प्रभाव अपनी तात्कालिकता में तीव्र एवं आक्रामक होता है, प्रायः स्थायी और गहन नहीं। इसीलिए प्रायः उस प्रभाव में कालातिक्रम से विशेष मौलिक अंतर नहीं आता। बहुआयामी या बहुस्तरीय अर्थ-सम्भावनाएँ भी पैदा नहीं होतीं। एक विशेष कालावधि में अत्यंत लोकप्रिय और प्रभावक्षम होने पर भी 'अंधा युग' के पुनर्मूल्यांकन का प्रश्न यदि नहीं उठा तो यह केवल संयोग नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि इस रचना में प्रचुर काव्य-गुण है। अंधों को दृष्टि देने वाला संजय अपने वर्णनों में अर्थ ग्रहण नहीं बिम्ब ग्रहण कराता चलता है। वह सूचनाएँ नहीं देता अपने अंधे श्रोताओं की कल्पना के लिए चित्र खड़े करता है। इस 'दिव्यदृष्टि सम्पन्न शब्द-शिल्पी' की भाषा अक्सर आलंकारिक और मूर्तिविधायनी हो उठती है। अवध्यता का वरदान पाकर भी आसन्न मृत्यु की भयावहता उसे ऐसी लगती है :

जैसे तेज बाण किसी
कोमल मृणाल को

"दायित्वगहन भाषा अपूर्ण श्रोता अंधे" की सर्जनात्मक पीड़ा की परिणति : अंधायुग

ऊपर से नीचे तक चीर जाय
चरम त्रास के उस बेहद गहरे क्षण में
कोई मेरी सारी अनुभूतियों को चीर गया
कैसे दे पाऊँगा मैं सम्पूर्ण सत्य
उन्हें विकृत अनुभूति से?

मृत्युबोध की यही अस्तित्ववादी मुद्रा सत्य की विकृत अनुभूति के लिए जिम्मेदार है। इसी प्रकार धृतराष्ट्र को जब अपनी वैयक्तिक सीमाओं/मूल्यों और ज्ञानहीन आस्थाओं के बाहर सत्य की व्यापक वस्तुगत स्थिति का भान होता है तो ऐसे कि :

सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषम जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अंतर्मन में पैठ गया।

आचार्य शुक्ल ने मार्मिक स्थलों की पहचान को प्रबंध की कसौटी माना है। प्रबंधकार के विवेक की परीक्षा इसी बात में होती है कि वह विस्तृत एवं बिखरे हुए कथा-प्रसंगों में से अपनी रचना के लिए व्यापार-शोध किस रूप में करता है। 'अंधा युग' में कथ्य के अनुरूप मर्मस्पर्शी स्थितियों की पहचान और उनके काव्यात्मक चित्रण का पर्याप्त प्रमाण मिलता है।

प्रबंध में मार्मिकता का आग्रह यदि केवल भाव-विगलन की दिशा में होता है तो उससे कारुणिक प्रगीतात्मक प्रभाव पैदा करने की सम्भावना/आशंका होती है। 'अंधा युग' में गृहीत मार्मिक प्रसंगों की शक्ति उनकी विडम्बनापूर्ण स्थिति में है भावाकुलता में नहीं। अश्वत्थामा का चरित्र युवा मानस की प्रश्नधर्मी प्रकृति को जिस आवेश की मुद्रा में प्रस्तुत करता है, उतने ही अप्रभावी ढंग से उसके विरोध का शमन हो जाता है। 'अंधा युग' की वास्तविक प्रश्नाकुलता के वाहक पात्र इसीलिए अपनी सारी मुखरता के बावजूद अश्वत्थामा और गांधारी नहीं, बल्कि युयुत्सु और संजय हैं। युयुत्सु के चरित्र की रीढ़ उसकी विडम्बनापूर्ण स्थिति है। इसी प्रकार धृतराष्ट्र और गांधारी का अंधापन महज एक तथ्य नहीं है - वह एक स्थिति है, प्रवृत्ति है जिसका बोध और दंश पूरे नाटक में इन दोनों पात्रों के साथ ही पूरे वातावरण पर लटका है। अश्वत्थामा में पशुत्व का उदय एक भावावेग, उत्तेजना मात्र नहीं है वह युधिष्ठर के 'अर्धसत्य' की तार्किक परिणति है जो क्रमशः मनोग्रंथि का रूप ग्रहण करती है। नाटक का घटना चक्र जिस क्रम से गांधारी के शाप के प्रसंग तक पहुँचता है, उस विधान में कृष्ण द्वारा शाप की नतमस्तक स्वीकृति पूरी स्थिति को एक विडम्बनापूर्ण नाटकीयता प्रदान करते हुए प्रभावी बनाती है। कृष्ण पक्ष

से प्रस्तुत तमाम तर्क युक्तियों की अपेक्षा यह एक प्रसंग उस आस्था को स्वर देने में कहीं अधिक समर्थ है जो 'अंधा युग' का कथ्य है। पूरे नाटक की संरचना द्वंद्वधर्मी न होकर असमंजसधर्मी है। यह असंमजस ही मूल्य-संक्रमण की ढुलमुल मानसिकता का लक्षण है। द्वंद्व प्रायः प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ देता है और असमंजस उन्हें आरोपित, अप्राकृतिक एवं अतार्किक परिणतियों तक ले जाता है। ऐसी परिणति उस स्थिति में और निश्चित हो जाती है जब आस्था या आदर्श सहज प्रेरित न होकर अर्जित हो। उत्तर तक पहुँचने का आग्रह 'अंधा युग' की वस्तु-योजना के नाटकीय तनाव को शिथिल ही करता है। कवि का संकल्प अंधों के माध्यम से 'ज्योति' तक पहुँचने का है जबकि वास्तविकता में ज्योति है कहाँ?

कृति के नाट्य शिल्प को भारती ने आरम्भिक 'निर्देश' में सविस्तार समझाया है। और तमाम बातों के अतिरिक्त इस रचना में प्रयुक्त भारतीय और पाश्चात्य परम्परा के साक्ष्य को प्रमाणित करने का आग्रह उनमें विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। नाट्य में शिल्प की दृष्टि से मौलिक या प्रयोग क्या है? की अपेक्षा भारती की चिंता यह अधिक है कि 'शास्त्र' और परम्परा किस बात की अनुमति कितनी दूर तक देते हैं और इसमें पूर्व और पश्चिम का मेल-मिलाप किस हद तक होता है।

'अंधा युग' के संदर्भ में प्रतीकात्मकता की बात प्रायः उठाई जाती रही है। प्रतीकात्मकता निश्चय ही किसी भी रचना में अर्थ विस्तार करती है। प्रतीक की प्रकृति आत्मनिषेधपरक होती है। प्रतीकात्मकता कभी-कभी अतिरिक्त दुरूहता या अस्पष्टता का खतरा भी पैदा कर सकती है।

ऐसा प्रायः प्रतीक के अन्योक्तिधर्मी प्रयोग से होता है जहाँ प्रस्तुतार्थ गौण होकर सांकेतिक अर्थ प्रधान हो जाता है। 'अंधा युग' की कथा में पात्र एवं घटनाओं का प्रयोग समासोक्तिपरक है। देश कालगत अर्थ-व्याप्ति उनके निजी ऐतिहासिक संदर्भ का निषेध कर उसे अप्रासंगिक नहीं बनाती।

'अंधा युग' के हर प्रसंग या पात्र का एक नियत ऐतिहासिक एवं दूसरा अनियत देश-कालातीत संदर्भ है। इसलिए एकातिरिक्त अर्थ की सम्भावना बराबर बनी रहती है। पूरा 'अंधा युग' जो कवि के अनुसार कलियुग है 'आस्था हत' युग का प्रतीक है। आस्था का आधार इस युग में विलुप्त हो गया है -- यह वस्तुस्थिति है और देखने वाली दृष्टियाँ अंधी हैं यह आत्मस्थिति या मानसिक स्थिति है। इस अंधी पीढ़ी को सत्य से अवगत कराने वाला संजय स्वयं दिव्यदृष्टि सम्पन्न किंतु अकर्मण्य पात्र है। उसकी समस्या दुहरी है -- 'कर्म-क्षेत्र में उतरे बिना जीवन की सार्थकता की खोज' और सत्य एवं अनुभूति का रूप अनिश्चित एवं विकृत हो जाने के कारण भाषा की अपर्याप्तता या अपूर्णता की गहरी

पीड़ा। नाटक के कई पात्र 'अंतराल' के रूप में रचित फैंटेसी के माध्यम से अपने और स्थितियों के प्रतीकात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हैं। 'अंतराल' की रचना नाट्य-तत्व के अनुरोध से नहीं, प्रतीकों की व्याख्या के उद्देश्य से की गई है। नाट्यधर्मिता को यह अंश, किसी रूप में शक्ति नहीं देता।

'अश्वत्थामा' इस कृति का सर्वाधिक विद्रोही, प्रश्नाकुल और क्षुब्ध चरित्र है। आधुनिक युग के उस युवा-मानस का प्रतिनिधि, जिसमें प्रतिशोध से प्रेरित कर्म का आवेग तो बहुत है किंतु सुस्थिर व्यवहार का विवेक उतना नहीं। उसमें आवेश है, असंतुलित आतुरता है, क्योंकि कर्म के परिणाम के प्रति दायित्वबोध का उसमें एकांत अभाव है। उसकी मनोग्रंथियों का दायित्व दूसरों पर है। उसकी विवेकहीन अनास्था की परिणति भी विवेकातिक्रांत आस्था में होती है। अश्वत्थामा से भिन्न युयुत्सु तर्कशील चरित्र है। उसकी स्थिति पूरे नाटक में अत्यंत विडम्बनापूर्ण है। वह विवेकाश्रित आस्था से आरंभ करता है और मोहभंग की निराशाजन्य आत्मघाती नियति को प्राप्त होता है। प्रश्न का विवेकसम्मत समाधान उसे भी नहीं मिलता। वस्तुतः स्थितियाँ अपने प्रकृत रूप में किसी निदान की ओर बढ़ती ही नहीं किंतु नाटककार उत्तर पाने के लिए प्रतिबद्ध है। अतः ज्योति के नाम पर वह अस्तित्ववादी विचारधारा की रूढ़ शब्दावली का संयोजन समाधान-सूत्र में कर देता है :

पर एक तत्व है बीज रूप स्थित मन में
साहस में, स्वतंत्रता में, नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्वयुक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में

यही नाटक की संरचनात्मक विफलता है। प्रश्न की उठान जितना प्रभावित करती है समाधान उतना ही अप्रभावी और अतार्किक प्रतीत होता है।

रचनाकार की क्षमता चित्रात्मक वर्णनों में, बिम्ब-रचना में, मूर्त विधान में, शब्दों की मितव्ययता में, यहाँ तक कि भाषण-कला में जितनी प्रकट होती है उतनी प्रबंध-परिणति में नहीं। अनिवार्य जीवन-मूल्य के रूप में स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा कर रचनाकार जिस मानवीय-विवेक और मर्यादित-आचरण पर बल देता है वह आस्था के अभाव में धुरीहीन मानव की स्वाभाविक चिंता का शाब्दिक समाधान ही हो सकता है, उसका कोई व्यावहारिक या सम्भावित रूप सामने नहीं आता। फिर भी इतना तो असंदिग्ध है ही कि रचना के उपरांत लगभग एक दशक तक इस रचना की अनेक प्रभावपूर्ण आवृत्तियाँ रेडियो और रंगमंच पर लगतार होती रही हैं। इसकी लोकप्रियता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है?

9. भुवनेश्वर : एक दृष्टि

लक्ष्मीकांत वर्मा

हिंदी-नाटक की विधा में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाले भुवनेश्वर का व्यक्तित्व उतना ही नाटकीय और सस्पेन्स पूर्ण था, जितना कि विधा की नाट्य कला की विधात्मक अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है। आज जिस स्थिति में हम हैं, उसमें हम यह भी नहीं कह सकते कि भुवनेश्वर जीवित हैं या मृत हो चुके हैं। उन्होंने अपने जीवन में भी उन नाटकीय तत्वों को जीने की कोशिश की, जो सामान्यजन के वश की बात नहीं है। भुवनेश्वर अपने नाटकों में 'कैथार्सिस' को कोई महत्व नहीं देते थे, क्योंकि वह जीवंत यथार्थ के सामने, जीवंत मनुष्य की क्रिया-प्रतिक्रिया से सत्य तक पहुँचने की कोशिश करते थे। अपने जीवन में भी, जितने दिन वे जिये, उन्होंने 'कैथार्सिस' को अपने पास फटकने नहीं दिया। यह बात और है कि जिस तरह वे जीते थे, उसे कुछ संभ्रान्त लोग 'मारविड' कहें, अशोभनीय कहें या घृणित कहें। भुवनेश्वर स्वयं एक दुखान्तक नाटक के एक पात्र की तरह जीने की कोशिश करते रहे। अंतर केवल इतना था कि दुखान्तक नाटक का पात्र एक कृत्रिम रंगमंच पर अपना रोल अदा करने के बाद सामान्य हो जाता है और जिसके विपरीत भुवनेश्वर ने समाज के खुले रंगमंच पर वह दुखांतक रोल अदा किया और सबकी आँखों से ऐसे ओझल हुए कि पता ही नहीं चला कि वे हैं भी या नहीं।

भुवनेश्वर नाम का व्यक्ति अवश्य हमारे बीच में नहीं है, किंतु उसके व्यक्तित्व से भरे-पूरे आधे-अधूरे नाटक हमारे सामने हैं, जिसके माध्यम से उस खोये हुए आदमी की पहचान निकल सकती है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में हिंदी नाटकों को एक अतीत के चलचित्र की नैसर्गिक बानगी में और उनके नाटकों की भाषा चरित्रों के व्यक्तित्व से अधिक नाटकीय हुआ करती थी। जयशंकर प्रसाद एक कुशल नाट्य-शिल्पी थे और उनके नाटकों का रचना-विधान ही ऐसा था, जिसमें भाषा मिश्रित होती थी। अतीत के स्वप्न देखते थे और एक अतीतगामी भाषा के माध्यम से अपनी संवेदनाएँ प्रेषित करते रहते थे। निश्चय ही वह हमारे हृदयों को छूती थी, किंतु जीवन के नितांत, सम-सामयिक यथार्थ से उनका सीधा संबंध नहीं जुड़ पाया। नतीजा था कि हिंदी नाटक विधा के

इतिहास के आडम्बर में वे फँस जाते थे। वर्तमान की सानुकूलता और प्रतिबद्धता के प्रति उनकी भाषा मौन थी और पात्र भी मौन थे।

भुवनेश्वर के पात्र में यथार्थ की सौंदर्य की स्थिति और वर्तमान से टकराने की क्षमता भी थी। यही कारण है कि उन्होंने हिंदी की नाट्य-विधा को इन्द्रजाल से निकालकर प्रकाश में खड़ा कर दिया। भुवनेश्वर की मूल समस्या थी कि जीवन के चारों ओर फैली विषमताओं के बीच जो कटु यथार्थ से उपजा हुआ जो सौंदर्य-बोध है, उसे प्रस्तुत करना और हो सके तो मनुष्य के भीतर उसकी आत्म-निष्ठा को एक नए धरातल पर जीने की प्रेरणा देना। उनके नाटक चाहे 'कारवाँ' हो या 'स्ट्राइक' या 'ताँबे के कीड़े' इनं सबमें संदेश की जगह पर आग्रह और वह आग्रह इस बात का है कि क्या मनुष्य जीवन की चुनौतियों के सामने सर्वथा नए ढंग से जीने के लिए तत्पर है और यदि नहीं तो विकल्प क्या है?

नाटक मूलतः दृश्य-काव्य कहा गया है। भुवनेश्वर इस तत्व को मानते हैं, किंतु वह दृश्य के माध्यम से काल को नहीं पकड़ते, बल्कि काल के माध्यम से दृश्य को पकड़ने की कोशिश करते हैं। इस मर्म को प्रायः आलोचकों ने पहचानने की कोशिश नहीं की है। इसीलिए उनके नाटकों को समझने में कठिनाई होती है। भुवनेश्वर दृश्य को केंद्र में रखकर काल की तलाश नहीं करते थे। इसके विपरीत वह काल को केंद्र में रख कर और तब दृश्य की सर्जना करते थे। काल को केंद्र में रख कर एक ही क्षण बहुदृश्यीय हो जाता था और भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सड़क, मकान, घर, होटल सब-कुछ एक-दूसरे में गड्डमड्ड होकर और एक-दूसरे से जुड़ा हुआ होकर प्रस्तुत होता है। यही कारण है कि उनके नाटकों को मंच पर प्रस्तुत करने का साहस सामान्य रंगकर्मी नहीं करता; क्योंकि रूढ़िवादी रंगशिल्प की मान्यता देश, काल और कर्म की एकता पर बल देती है, जबकि भुवनेश्वर काल को केंद्र में रखकर दृश्य और कर्म की अंतर्क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से नाटक बुनते हैं। इस दृष्टि से भुवनेश्वर का व्यक्तित्व एक ऐसे नाट्य-शिल्पी का है जो मान्यताओं पर नहीं वरन् विपन्नताओं को संग्रहीत करके यथार्थ तक पहुँचना चाहता है।

भुवनेश्वर के बहुत बाद अंग्रेज़ी नाट्य-लेखों में आस्वार्न ने 'एंग्री यंगमैन' नाटक लिखकर जिस प्रकार अस्वीकार वाली दृष्टि को प्रस्तुत किया, उसके कुछ पहले और बाद में अंग्रेज़ी में 'एब्सर्ड' नाटकों की बाढ़-सी आ गई थी। यदि यह अतिशयोक्ति न माना जाए तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि जिन एब्सर्ड नाटकों की परम्परा अंग्रेज़ी साहित्य में 1958-60 के बीच आई, उसकी पूर्व भूमिका हिंदी के नाटककार भुवनेश्वर में 1936 से 1940 के बीच मिल जाती है। यह हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है कि उसने भुवनेश्वर की प्रतिभा का मूल्यांकन नहीं किया और नाट्य-विधा में युग-प्रवर्तक की भूमिका निभाने वाले शिल्पी और कलाकार को विक्षिप्त होकर समाप्त होने दिया। अंग्रेज़ी

का मुहावरा है 'सब लाइम (उदात्त) अपने चरम उत्कर्ष में अपनी अद्वितीयता के कारण एब्सर्ड (अर्थहीन) हो जाता है'; लेकिन यह भी सत्य है कि कभी-कभी नितांत अर्थहीनता में इतने गंभीर अर्थ निहित होते हैं, जिनको व्यक्त करने के लिए भाषा अपर्याप्त होती है और शायद इस अपर्याप्तता के कारण ही नृत्य, संगीत, अभिनय, मुद्रा आदि का आविष्कार हुआ होगा। भुवनेश्वर के नाटकों में शब्द और अभिनय अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि शब्दाभिनय के संयोग से यथार्थ प्रेषित होता है। इसीलिए उनके नाटक एक प्रतीक से शुरू होते हैं और इस प्रतीक को संपूर्ण निचोड़कर उसकी परिसमाप्ति कर देते हैं। इसीलिए उनके नाटकों के मंचन में एक दूसरी कठिनाई जो सामने आती है, उनकी अर्थहीनता इतनी सार्थक होती है कि यदि नाटक के निर्देशक की गहरी दृष्टि नहीं है, तो वह संप्रेषणीय होने के बजाय निरर्थक लगने लगेगा। वस्तुतः निरर्थकता से सार्थकता की व्यंजना देना भी शब्द और अभिनय को बहुआयामी बनाता है और इस बहुआयामी परिप्रेक्ष्य को जिस तरह भुवनेश्वर अपने नाटकों में सँजोते और सँवारते हैं, वह अपने-आप में एक अनुभव है।

हिंदी एकांकी के बहुत-से जनक हैं, किंतु मैं भुवनेश्वर को ही आधुनिक रंगमंच का जनक मानता हूँ, क्योंकि आधुनिकता काल-सापेक्ष नहीं है। वह मूलतः चेतना और भावबोध का नाम है। इस अर्थ में भुवनेश्वर का व्यक्तित्व केवल आधुनिक है और शायद अपने समय से पहले पैदा होने का कारण वह स्वयं, उनकी रचनाएँ, उनके पात्र, सभी इस अभिशाप से अभिशप्त हैं। भुवनेश्वर के नाटकों में काल की अनुभूति भी इन्हीं माध्यमों से होती है, क्योंकि न तो वह मेकेनिकल टाइम में जीते हैं और ना ही गणितज्ञ के काल में। इसीलिए वह जिस काल में बँधते हैं, वह हाथ से छुटा हुआ क्षण है, जिसे पकड़ पाना सदैव कठिन है।

भुवनेश्वर के चरित्र को उनकी अंग्रेज़ी की कविताओं में ज्यादा विस्तार के साथ देखा जा सकता है। यह भी एक दुर्भाग्य ही है कि उनकी संपूर्ण कविताएँ या तो नष्ट हो गई हैं या जिन लोगों के पास हैं, उन लोगों ने प्रकाशित नहीं कीं। अपने जीवन के अंतिम दिनों में भुवनेश्वर माँगे जाने पर नाटक लिखते थे और शेष समय में रद्दी कागज़ों पर अंग्रेज़ी कविताएँ लिखा करते थे। हमने उनकी कुछ कविताओं को शमशेरबहादुर सिंह द्वारा अनुवाद कराकर 'निकष' में छापा था। उन कविताओं को पढ़कर कोई भी कह सकता है कि भुवनेश्वर की मानसिकता क्या थी और उनके भीतर जो कलाकार था, वह किस अभीष्ट के लिए बेचैन था। ओल्ड बाइबिल के (रूथ), (मिथ) को आज की विसंगतियों के संदर्भ में भुवनेश्वर ने अपनी अंग्रेज़ी कविताओं में जैसा प्रयोग किया था, वह उनकी प्रतिभा का अद्वितीय अंग था। यह उनकी अतिवादी दृष्टि का ही नमूना था कि वह अंग्रेज़ी की कविताओं को 'हाड़ा' के नाम से प्रकाशित करते थे। शाहजहाँपुर का रहने वाला यह

व्यक्ति क्यों और किसलिए अपने को हाड़ा राजपूत कहता था, कहना कठिन है। किंतु उनकी कविताएँ यह तो दर्शाती ही थीं कि वह कहीं पर अपनी भावनाओं में राजपूती टेक की दृढ़ता चाहते थे। एक विलक्षण बात यह भी थी कि निराला की भाँति अपने जीवन के अंतिम काल में वह केवल अंग्रेज़ी में बोलते थे और अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखते थे। कुछ नाटक भी अंग्रेज़ी में लिखे हैं, जैसे - 'एलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क'। उस ज़माने में मैंने इन नाटकों को अंग्रेज़ी में पढ़ा और विचित्र बात यह थी कि सारे भारतीय संदर्भ में 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' की राजनैतिक गुत्थियों को भारतीय परिवेश और भारतीय पात्रों द्वारा व्यंजित किया गया था। केवल नाटकों के शीर्षक 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' थे। इसका आशय क्या था, यह जानना कठिन है, किंतु उन दो अंग्रेज़ी नाटकों – 'अलेक्जेन्डर' और 'विसमार्क' की 'एब्सर्डिटी' को बड़े ही 'पेथेटिक' रूप में प्रस्तुत किया था।

भुवनेश्वर के नाटकों और कविताओं को पढ़ने से यह भी पता चलता है कि इतिहास-तत्व और समाजशास्त्रीय घेरेबंदी में आदमी इतना अगंभीर, गंभीरता का पात्र बन जाता है, अपने आप में मूल्यवान अनुभव है। भुवनेश्वर का बौद्धिक अभिजात्य बड़ा ही कठोर और मर्मपूर्ण था, क्योंकि देखने में सर्वहारा वेशभूषा में रहने वाले भुवनेश्वर में एक अभिजात्यपूर्ण डिक्टेटरी का ताना-बाना था और शायद इन्हीं दो विरोधाभासों के बीच उनका व्यक्तित्व विक्षिप्त तो नहीं हो पाया, किंतु बिखर अवश्य गया। यही कारण है कि मैं भुवनेश्वर को विक्षिप्त व्यक्ति नहीं मानता हूँ। हाँ, ऐसा व्यक्ति जरूर मानता हूँ, जिसने अपने अभिजात्य संस्कारों के तहत अपनी अद्वितीय प्रतिभा को समेटने की कोशिश नहीं की। वस्तुतः प्रतिभा को हमारे यहाँ शेरनी का दूध कहा गया है, जो केवल सोने के पात्र में ही टिक सकता है। यदि पात्र कच्चा हुआ तो दूध पात्र तोड़कर निकल जाता है। भुवनेश्वर के व्यक्तित्व और कृतित्व के मूल्यांकन से जिस अद्वितीय प्रतिभा की झलक मिलती है, उसका पात्र, उनका काल तथा पार्थिव शरीर नहीं था। यही कारण है कि जब उसे उचित पात्रता नहीं मिली तो वह पात्र तोड़कर निकल गई और स्वयं भी बिखरी और पात्र भी बिखरा।

बहुत कम लोग जानते हैं कि भुवनेश्वर एक अच्छे चित्रकार भी थे। उनकी बहुत-सी कविताएँ और बहुत-से 'स्कचेज' शमशेरबहादुर सिंह और स्वर्गीय सुरेन्द्रपाल सिंह के पास सुरक्षित थीं। आज वे कहाँ हैं, कहना कठिन है। किंतु मुझे याद है कि उन रेखाओं में बड़ा दम-खम हुआ करता था और उन्हें किसी भी आधुनिक कलाकार के 'स्केच' की तुलना में रखा जा सकता था।

लिखने को तो भुवनेश्वर के संस्मरण अनेक लिखे जा सकते हैं, किंतु इतना सब लिखना केवल यही जताना होगा कि हम भुवनेश्वर को जानते हैं; किंतु यह कहना कोई बड़ी बात

नहीं है। मुख्य बात यह है कि क्या हमने भुवनेश्वर को उनके कृतित्व द्वारा जानने की कोशिश की? क्या हमने आधुनिक संवेदना के संदर्भ में भुवनेश्वर की कृतियों का मूल्यांकन किया? क्या कभी यह जानने की कोशिश की कि भुवनेश्वर मानसिक रूप से कितने गहरे बुद्धिवादी थे? यह सही है कि भुवनेश्वर ने अपनी कृतियों में भगवान का नाम नहीं लिया है, किंतु ईश्वर द्वारा रचित इस सृष्टि की जो व्याख्या की है, वह भी एक ईश्वरीय महिमा की निरर्थकता और यथार्थ में कठोरता – दोनों को प्रमाणित करती है। इस संदर्भ में लखनऊ के कृष्ण नारायण कक्कड़ से बहुत-कुछ जाना जा सकता है, क्योंकि मैंने सुना है कि जब भुवनेश्वर विक्षिप्त नहीं घोषित किए गए थे, उस समय के बहुत-से संस्मरण उनके पास हैं।

अंत में, भुवनेश्वर को उनका सही स्थान देने के लिए कोशिश की जानी चाहिए और कम से कम विश्वविद्यालय के शोध-छात्रों को इसमें लगाना चाहिए, ताकि उनका सही मूल्यांकन सामने आ सके।

10. नये नाटक के जन्मदाता : भुवनेश्वर

विपिन कुमार अग्रवाल

भुवनेश्वर नये नाटक के जन्मदाता कहे जाते हैं। शायद इसीलिए अब तक गंभीर साहित्यिक अध्ययन के दायरे के बाहर पड़ते रहे। जब हमारी समझ अपने पूर्वकाल के बारे में कच्ची और अधूरी थी, तब इस तरह का नये से दुराव मायने रखता था। जब तक हम मानते थे कि मनुष्य भूत से भविष्य की ओर बहता हुआ किनारे पर रेत की तरह साहित्य के ढेर जमा करता चलता है और अपनी समझ बढ़ाता चलता है, तब तक नए साहित्य का समुचित अध्ययन नामुमकिन था। आज ऐसी स्थिति नहीं है। हमारा पुराने का ज्ञान गहरा और व्यापक हो गया है। आज हम जानते हैं कि यह ज्ञान भी वर्तमान की खोजों की रोशनी में बदलता रहता है, कामचलाऊ भर होता है। जब अतीत का ज्ञान टिकाऊ नहीं है और वह गंभीर अध्ययन का विषय बन सकता है, तब निश्चय ही वर्तमान का अस्थायीपन आड़े नहीं आना चाहिए, बल्कि सही दृष्टिकोण यह माना जाने लगा है कि वर्तमान अतीत का क्षितिज है या चेहरा है, उससे जुड़ा हुआ भी, उससे अलग भी – महज अगली कड़ी नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर कोई कारण नहीं मालूम होता कि नए नाटक और उसके जन्मदाता को गंभीर आलोचना का विषय न माना जाये। उलटे ऐसा न करना अपने उत्तरदायित्व को न निभाना होगा।

भुवनेश्वर ने जब लिखना शुरू किया, तब हिंदी साहित्य व्यक्तिवाद से मुक्त नहीं हो पाया था। लोगों में आत्मविश्वास था, निजी आंतरिक बल से और लगन से कठिनाइयों पर काबू पा लेने का शौक था। इसलिए त्रासदी प्रायः व्यक्तिगत होती थी। उसके लिए निजी उत्तरदायित्व स्वीकार करना अपने को गौरव प्रदान करता था। अपराध-भावना से ओत-प्रोत होकर अपने को दण्ड देकर, उऋण होना एक महत्वपूर्ण घटना होती थी। किसी की छुपी अपराध-भावना को या दमित इच्छा को उजागर करना उसे लांछित करना था। इसीलिए 1936 में प्रकाशित 'कारवाँ' के नाटकों में भुवनेश्वर कथावस्तु से, फ्रायड के मनोविज्ञान से, लकीरी उतराव-चढ़ाव से, जीवन के किसी विशेष पहलू से गंभीरतापूर्वक उलझते दीख पड़ते हैं। फलस्वरूप, आरंभिक रचनाओं में भुवनेश्वर प्रचलित नाटक लिखने की प्रथा से बँधे हुए हैं। 'यथार्थ कथानक में बैठकर आता है, मरूड़ जाता है। हर प्रेम-समस्या

त्रिकोण में बँट जाती है। प्रायः समस्त नाटककार दो पुरुषों को एक स्त्री के आमने-सामने खड़ाकर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है।' भुवनेश्वर।

विश्वयुद्ध (1939-45) ने सारी दुनिया में विवेक और संतुलन के प्रति जो विश्वास था, उसे तोड़ दिया। सारे ज्ञान और विज्ञान के बीच भी मनुष्य बर्बरता और हवस से पागल हो सकता है, यह सत्य उभरकर आया। सारा बौद्धिक वर्ग जब इस युद्ध में हिस्सा लेकर 1945 में उभरा, तो हैरानी की हालत में था। जिस रेडियो ने उसे दूर-दूर का संगीत सुलभ किया था, वही रेडियो दूर-दूर बम गिराने के काम आया। जिस विज्ञान ने सुख-सुविधाएँ और तर्क पर विश्वास दिलाया था, उसी ने विनाश के ऐसे साधन जुटा दिए कि उन्हें देखकर सारे तर्क, साशी समस्याएँ, सारी संभावनाएँ, सारे संबंध उलट-पलट गए। तब निर्माण कर लेने के स्वप्न का स्थान 'सब मिटा देने के भय' ने ले लिया। आत्मविश्वास हास्यास्पद लगने लगा। निजी बल सिकुड़ गया। ऐसे भय में जीना स्वाभविक नहीं हो सकता। यह एक अजब और अनहोनी के तनाव के बीच बेहद चिड़चिड़ेपन के साथ जीना है। सबने इसको महसूस किया। सबने पाया कि यथार्थ माने-गए-यथार्थ से भिन्न है। उसमें कथानक है। आज इन्सान चाँद की ओर जा रहा है और इन्सानियत रसातल की ओर। अजब हैरानी है!

ऐसे में राजा-रानी की कहानी कहना, प्रेम के त्रिकोण रचना, वियोगी-वियोगिन का नाटक लिखना, ड्राइंगरूम के लिए पनघट के चित्र बनाना मन बहलाव के, मनोरंजन के साधन तो हो सकते थे, पर कला नहीं। भुवनेश्वर हिंदी के पहले लेखक थे, जिन्होंने इसे महसूस किया और अपने को बदला। यह ध्यान देने की बात है कि नाटक का विकास वास्तव में विश्वयुद्ध के बाद से ही आंरभ हुआ। भुवनेश्वर का 'ताँबे के कीड़े' 1946 में आया, जेने का 'द मेड्स' पेरिस में 1947 में खेला गया, आयनेस्को का 'बाल्ह प्रिमाडीना' 1950 में मंच पर आया और बैकेट का 'वेटिंग फॉर गोदो' 1952 में। आरंभ में इनका बहुत विरोध हुआ। दर्शकों और आलोचकों ने इनकी हँसी उड़ाई, जैसा कि हर नए दौर के साथ होता है।

सर्वव्यापी भय और मृत्यु को स्वीकार करने का सबसे सक्षम ढंग अगर है, तो यही कि जीवन को और जीने लायक बनाना है। अपनी कल्पना-शक्ति से और इरादे के मानवीकरण से हम उस पर काबू पा सकते हैं, उससे भागकर हम न जी सकते हैं, न दूसरे को जीने का सहारा दे सकते हैं :

मस. प. : नहीं.....मुझे जरूर नाश करना चाहिए। मैं अपना डर दबा सकता हूँ, लेकिन मैं उसे उखाड़ फेंकना चाहता हूँ।.....क्या मुसीबत है! संसार में भय के नाश करने का मतलब है संसार का नाश करना।

परे. रमणी : लेकिन तुम भय पैदा ही क्यों करते हो? मालूम होता है, तुम सिर्फ भय ही भय खाते हो, तुम मुझे कुछ बतलाते क्यों नहीं?

मस. प. : **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन ..... करना होगा।

--'ताँबे के कीड़े'

यदि शब्द झूठे पड़ गए हैं, तो हमें हरकत की भाषा का सहारा लेना पड़ेगा। हरकत की भाषा हमारे जीवन का अंग है। कभी हम हरकतें ज्यादा करते हैं और कभी बोलते अधिक हैं। दोनों का संतुलन ही पूरी भाषा है। पर जब एक पर से आस्था उठ जाती है, तब दूसरी उसकी जगह ले लेती है। आज लगता है, बहुत-से शब्द अर्थ खो बैठे हैं या सम्प्रेषण के लिए फालिजमय हो गए हैं। इनके सहारे हम कहना कुछ चाहते हैं, कह कुछ और जाते हैं। इसलिए हरकत की भाषा का सहारा लेना अनिवार्य हो गया है। भुवनेश्वर ने 'ताँबे के कीड़े' में इस भाषा का सशक्त उपयोग किया है :

मस. प. : ... मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किए बताया जा ही नहीं सकता।

(अनाउन्सर हँसती है और झुनछुना बजाती है)

थका आ. : ...तुमने क्या शब्द कहा था?

थका आ. : मैं सीटी बजाऊँगा। मैं अपनी ताकत सीटी बजाने में खत्म कर दूँगा।

मस. प. : मैं हर वक्त सोते-जागते देखता हूँ, रचता हूँ.... और कायम करता हूँ।

परे. र. : कभी-कभी वह अपने दिमाग को आराम देने के लिए ऊटपटाँग बातें करने लगते हैं...पागल आया...देखती नहीं है, वह सिर्फ़ ढूँढ़ती है...न जाने क्या–और कहाँ...

–ताँबे के कीड़े'

हरकत की भाषा के महत्व को जितने गहरे ढंग से भुवनेश्वर ने समझा है, उतना उनके समकालीन लेखकों में से किसी ने नहीं समझा। उनकी हरकत की भाषा को बिना पहचाने उनका नाटक अजीब, शिथिल और निरर्थक लग सकता है। पर इससे एक बार अवगत हो जाने पर सब कसा हुआ, माने से भरा हुआ, आवश्यक और बिल्कुल सही लगने लगता है। यदि सही भाषा का चुनाव किसी कृति की सफलता का मापदंड माना जाये तो 'तांबे के कीड़े' एक अद्वितीय रचना है। भुवनेश्वर के सामने दो रास्ते थे–या तो

वे सृजन करते ही नहीं, यदि करते तो हरकत की भाषा, साधारण बोल-चाल की भाषा और असाधारण कल्पना का सहारा लेते। उन्होंने दूसरा रास्ता चुना।

किसी समय की विचार-पद्धति और कला की बनावट के लिए यह कहना कि अच्छा होता कि वे विभिन्न प्रकार के होते, यह कहने के बराबर है कि वे होते ही नहीं। हर समय के पाठक और दर्शक एक माँगों के वातावरण की सृष्टि करते हैं, जिसके बीच कला या साहित्य का आकार ढलता है, पनपता है। वास्तव में यह रिश्ता दोहरा है। साहित्य लौटकर रुचि को प्रभावित करता है और नयी माँगों को जन्म देता है। जब ऐसा नहीं होता, तो जो लिखा जा रहा है, या तो वह साहित्य नहीं है, लेखक की मनमानी ही है बस, या वह विधा जैसे–उपन्यास, कविता या नाटक, उस समय के तनावों का बोझ ढोने के लिए उपयुक्त नहीं है। इसलिए एक ही समय हर विधा अपनी पूरी उठान पर नहीं होती या बराबर ध्यान आकृष्ट नहीं करती। आज लगता है कि लोगों का ध्यान नाटक की ओर ज़्यादा जा रहा है।

नया युग पुराने युग से कई माने में भिन्न है। उदाहरण के लिए, आज न कोई व्यक्तिगत स्तर पर अपराधी है और न उत्तरदायित्व को महसूस करता है। लगता है, हर घटना सभी को छूती है। उसके लिए हम सभी किसी-न-किसी अर्थ में उत्तरदायी हैं। अतः आज की त्रासदी अजीबपन में, बेतुकेपन में, कल्पनातीत में, विकृत में, भाँड़पन में व्यक्त होती है, यथार्थ की तरह कथावस्तु-विहीन हो जाती है। 'ऊसर' का गंभीर ट्यूटर हट जाता है और उसके स्थान पर हँसती झुनझुने वाली 'ताँबे के कीड़े' में मिलती है। यहाँ सभी आवश्यक तत्वों का समावेश है–कथा-विहीनता, हरकतें और प्रतीकात्मकता। इस अर्थ में भुवनेश्वर अपने समकालीन सभी कवियों, उपन्यासकारों और नाटककारों से आगे हैं, आगे आनेवाले मूल्यों के प्रति आगाह हैं।

यथार्थ के बीच हास्य, व्यंग्य, उछल-कूद और बेतुकेपन के अनोखे वातावरण की सृष्टि कर भुवनेश्वर सामयिक त्रासदी को और गहरा बना देते हैं। इस तरह के वातावरण के कलात्मक उपयोग के कई पहलू हैं। बैकेट, आयनेस्को, बादल सरकार, लक्ष्मीकांत वर्मा और शम्भुनाथ सिंह के नये नाटक-प्रयोग इसके साक्षी हैं। इस वातावरण में एक आकर्षण होता है, जो दर्शक को अनायास अपनी ओर खींचता है, उलझाता है, दुनिया के शोर-गुल से अलग करता है और एक ऐसे आधान या पात्र का सृजन करता है, जिसमें पूरा नाटक समाया हुआ दीखता है। यह कैसे मुमकिन होता है? इसे जानना नये नाटक को समझने के लिए आवश्यक है।

कला का काम है जीवन के या पदार्थ के विभिन्न, विशेषकर खोये, छुपे या दबे पहलुओं को उजागर करना। हो सके तो सुबह के बढ़ते बाहरी और अन्दरूनी शोरगुल के बीच

'चिड़िया की आवाज' को हमें सुनवाना। अक्सर यह भी कहा जाता है कि कला ऊपरी तहों के भीतर जाकर यथार्थ के आंतरिक और गहरे अर्थों को ढूँढ़ निकालती है।

हर घटना या वस्तु का एक समय में एक ही पक्ष उभरकर आता है। जब एक गुण उभरकर आता है, तब उसके दूसरे गुण छुप जाते हैं। यह हर अंकन की सीमा है, बेबसी है। नया नाटककार इस सीमा को, इस बेबसी को शक्ति में बदल लेता है।

हर घटना एक चौखट का काम करती है, जिसमें कसी गयी वस्तु का एक रूप आकार ग्रहण करता है। यदि यह चौखट केवल साधारण तार्किक स्थितियों से बनाई गई, तो बहुत मुमकिन है कि वस्तु का परिचित रूप, सतही रूप ही आकार ग्रहण करेगा। हद-से-हद उसमें कुछ दृष्टिकोण का या महत्व का अन्तर होगा। ऐसे गुण को, ऐसे आकार को उजागर करना, जिसको पूर्व इतिहास के आधार पर आशा न हो, विशेष कला आग्रह की माँग करता है। छुपी और नयी संभावना या पहलू को ढूँढ़ने के लिए यदि हँसना और बेतुका भी होना पड़े तो सौदा मँहगा नहीं पड़ेगा।

विज्ञान के प्रभाव से जीवन की गति इतनी तीव्र हो गयी है, दवाओं की उपस्थिति इतनी घनी हो गयी है कि किसी स्थिति को अलग कर, देर तक फोकस में रखकर, उलट-पलटकर निरख ही नहीं पाते हैं। रोज नयी चीज़ों का सामना करना पड़ता है और पुरानी चीजें छूटती जाती है। व्यवस्थित अनुभव का स्थान अनुभवों की भीड़ ने ले लिया है। आज किसी का मन कई कारणों से घबरा सकता है–सुबह भुट्टा खा लेने की वजह से, आयकर बढ़ जाने की वजह से, वियतनाम की लड़ाई की वजह से या अन्तरिक्ष-यात्री के खो जाने की वजह से। इन कारणों को सुलझाना नामुमकिन हो सकता है। हर आदमी जैसे सारी दुनिया से उलझा हुआ है। ऐसे में यदि हम कोई सूक्ष्म और संवेदनशील बात कहना चाहें तो कैसे कहें, कहाँ कहें? गतिशील दुनिया में कोई शान्त स्थान नहीं है, जहाँ बाहरी प्रभावों का हस्तक्षेप न हो। स्थिति कुछ वैसी हो जाती है कि कैसे भयंकर तूफान में एक जलते दिये की लौ के अपने स्वाभाविक कंपन को दिखाया जाये ! एक ही रास्ता रह जाता है। एक छोटे-से स्थान पर तूफान से आड़ कर दें और वहाँ दिये को रख दें। मंच पर घुमड़ते यथार्थ के बीच एक अजीब घटना इसी आड़ को पैदा करती है।

कथाविहीनता, हास्य-व्यंग्य और बेतुकी स्थितियों के जाल में ऐसी सम्मोहन शक्ति होती है कि दर्शक नाटक की स्वतः पूर्ण दुनिया का हिस्सा बन जाता है। कुछ प्रभाव वैसा ही होता है, जैसा कि वैज्ञानिकगण प्रयोग करते समय यन्त्र में पैदा कर लेते हैं। अनावश्यक प्रभावों (शोर) को हटाकर, दबाकर, एक चुने हुए प्रभाव के असर को नापने या दिखलाने (चिड़िया की आवाज़ को सुनाने) जैसी स्थिति पैदा हो जाती है। एक बार ऐसी स्थिति पैदा हो जाने पर वस्तु का या स्थिति का वह आकार, वह पहलू, उभर जाता है, दीखने

लगता है, जो अन्य बाहरी प्रभावों की उपस्थितिवश दबा था, नहीं दीख रहा था। इसका संबंध भाषा से भी है।

नाटक का बोलचाल की भाषा से दोहरा संबंध होता है। एक ओर वह अपनी प्रकृतिवश उस पर आधारित होता है, दूसरी ओर वह बोलचाल की भाषा को बनाता और उसमें कुछ जोड़ता भी चलता है। तकनीकी भाषा को छोड़ दें, तो बोलचाल के अधिकतर शब्द बहुआयामी होते हैं। इसीलिए एक ही शब्द कविता, उपन्यास या नाटक में नाना प्रकार से उपयोग में लाया जाता है। अलग-अलग समय में, सन्दर्भ में, अलग-अलग अर्थ ध्वनित करता है। जब समाज किसी पूर्वनिश्चित ध्येय से पीड़ित नहीं होता, तो वह शब्द से किसी एक विशेष वर्ग को बराबर ध्वनित करने की माँग नहीं पैदा करता। जब समाज किसी संकट की स्थिति में होता है, जैसे–युद्धरत किसी तानाशाह के मातहत या अति वैज्ञानिकता से पीड़ित, तब सारा वातावरण एक दिशा की ओर ऐंठा हुआ होता है। यथार्थ का एक पहलू या चेहरा ही उभरकर आता है। ऐस में शब्द का वही अर्थ बार-बार सामने आता है, जो इस चेहरे पर प्रक्षिप्त होता है। शब्द अपने बहुआयाम से वंचित होकर घटकर, एक आयाम का या लकीरी हो जाता है। ऐसे लकीरी शब्दों से विज्ञापन रचा जा सकता है, नेता अपनी बात कह सकता है, पर कविता नहीं लिखी जा सकती। प्रायः कविता में अपने में इतनी शक्ति नहीं होती कि लकीरी भाषा को पुनः बहुआयामी शब्दों से भर दे। इसके लिए नाटक का सहारा लेना पड़ता है। कविता खुद नाटकीय हो जाती है या कवि ही नाटक लिखने लगते हैं।

यदि शब्द की एक-आयाम की कैद से निकालकर फिर बहुआयाम का मुक्त बाना पहनाना है तो निश्चय ही हमें यथार्थ का कोई अन्य चेहरा या पहलू उभारना पड़ेगा, जो प्रक्षेपक का काम कर सके और भाषा के दबे आयाम को प्रक्षेपित कर सके। संकटकाल में या उसके बाद यथार्थ का कोई साधारण, बहुपरिचित साहित्यिक पहलू उभारने की कोशिश भी की जाए, तो दर्शकों का मन उस पर टिकता नहीं, ध्यान छिटककर विषाक्त, ऐंठे वातावरण से जुड़ जाता है और कला विलास लगने लगती है, शब्द अर्थ खोने लगते हैं। ऐसे में नाटककार असाधारण, ऊलजलूल या बेतुकी स्थिति पैदा कर दर्शक को चौंकाकर बाहर के वातावरण को भुलवा देता है और एक नया संदर्भ खड़ा कर देता है। इस प्रकार के अलगाए माहौल में शब्द के दबे अर्थ सुनाई पड़ने लगते हैं, 'चिड़िया की आवाज' तैरकर आने लगती है और शब्द नये अर्थ को प्रक्षेपित कर सकने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। शब्द अपनी सूक्ष्म अनुगूँजों सहित बज उठता है, सुनाई पड़ने लगता है। शब्द पुनः जादूमय हो जाता है। भाषा बहुआयामवाली हो जाती है। उससे छनकर प्रेषित हुआ यथार्थ रंगीन और गहरा हो जाता है। एक तरह से खोया हुआ यथार्थ हमें फिर वापस मिल जाता है।

प्रयोगशाला-जैसा गझिन और एकरंगा वातावरण जितना भी हमारे परेशानी भरे उलझे जीवन में मुमकिन हो सकता है, उतना नया नाटककार चरम-स्थिति, निरर्थक स्थिति या हास्य-व्यंग्य की स्थिति को सहसा मंचपर उँड़ेलकर हासिल कर लेता है। जैसे– 'डूबते' आदमी को ही 'तिनके' में 'सहारा' दीख सकता है, वैसे ही यथार्थ के बीच बेतुकी स्थिति, वस्तु या घटना के अर्थ को विस्तार देती है, परिचित तथा प्रत्याशित यथार्थ में कुछ जोड़ती है। तिनके के सहारा देने की छुपी शक्ति को ढूँढ़, निकालने के लिए, अर्थमय लगने के लिए, डूबते (चरम-स्थिति) आदमी का दृष्टिकोण आवश्यक है। आत्महत्या करना या डूबना साधारण दैनिक क्रियाएँ नहीं हैं। इनसे आरंभ करना असाधारण लग सकता है। पर यहाँ से चलकर हम कुछ नयी संभावनाओं के प्रति आगाह हो सकते हैं, तो यही सही ढंग है। प्रेम में और कला में कुछ भी वर्जित नहीं होता। जैसे– 'डूबते को तिनके का सहारा' मुहावरा शब्दार्थ में अजीब होते हुए भी एक अर्थ देता है, वैसे ही नया नाटक स्थितियों के तारतम्य से ऊटपटाँग होते हुए भी कलात्मक अनुभव देता है। नया नाटक बेमेल स्थितियों से बना मुहावरा है।

हमारे जीवन में घटनाएँ किसी कथानक के अनुसार नहीं घटतीं, न ही रोजमर्रा की घटनाओं में सभी हिस्सा लेने वालों को हम लोग जानते हैं। अक्सर सोचने पर–हम कौन हैं, क्यों हैं, ऐसे सरल दीखते प्रश्नों के उत्तर भी नहीं मिलते। जब तक जो नाटक हम पढ़ते या देखते आए हैं, उनमें चरित्रों का परिचय देकर, उनके अनुरूप कथानक में उन्हें रखकर, किसी गम्भीर दीखते सामाजिक या अन्तरमन के प्रश्न का अन्त में उत्तर देने की कोशिश मिलती है। ऐसे नाटकों ने एक खास नाटकीय यथार्थ का हमें आदी बना दिया है। जो बहुत साफ-सुथरा, सलीके से सजा हुआ और उत्तर देने की गारण्टी से लदा हुआ है। नया नाटक उत्तर देने का दम नहीं भरता। वह यह भी नहीं मानता कि किसी प्रश्न का हर संदर्भ में कोई निश्चित, सही, शाश्वत उत्तर है। भुवनेश्वर इस आधुनिक निष्कर्ष पर बहुत पहले पहुँच गये थे। "एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सृजन करना है।"

–भुवनेश्वर

नया नाटक अजीब इसलिए नहीं लगता कि उसमें यथार्थ में होने वाली घटनाएँ गायब हैं, बल्कि इसलिए लगता है कि उसमें अब तक आदत से बने नाटकीय यथार्थ का भ्रम टूटता है।

(लड़के हँसते हैं।)

थका अ. : अच्छा बच्चो, अब एक पहेली बूझो **(ताली बजाकर पटु लहजे में...)** कालेज के बच्चो, बूझो–क्या तुम ऐसी चिड़िया का नाम बता सकते हो, जो उमड़ती निडर घटाओं के बीच नाचती है, जिसके पर में आठ रंग होते हैं,...पर...जो कुत्ते की तरह भौंकती हैं?

ए. ल. : **(रूआँसा)** नहीं।

थका अ.: **(खुशी से तालियाँ पीटकर नाचने लगता है।)** तुम नहीं बता सकते, तुम अभी बच्चे हो। मैं जानता था, तुम नहीं बता सकोगे। ...अरे मोर... मोर मोर,...तुम नहीं जानते? ... मोर...।

ए. ल. : **(कड़ककर)** लेकिन मोर भौंकते कहाँ हैं? **(परेशान रमणी की हँसी उभरती है।)**

थका अ.: **(गंभीर)** यही तो भेद है और नहीं तो तुम बूझ न लेते, और इसमें मजाक ही क्या था?

परे रमणी : **(जैसे चौंककर)** मुझे नहीं मालूम, मैंने तुमसे शादी क्यों की? **(अनाउन्सर झुनझुना बजाती है।....)**

–'ताँबे के कीड़े'

आदमी यथार्थ के अजीबपन से उतना नहीं चौंकता, जितना भ्रम के टूटने से। भ्रम के टूटने पर वह अपने को असहाय, अरक्षित और बेपनाह पाता है। इतना हो जाने पर नाटककार दर्शक को उकसाता है कि वह नाटक में हिस्सा ले :

'जिन्दगी और नाटक का प्राबलम.....एक ही है, यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर कर देना और उनमें एक केन्द्रीय महत्व हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए।'

–'ताँबे के कीड़े'

यदि दर्शक ऐसा नहीं करेगा तो वह अपने बचाव के लिए नाटक को ही अस्वीकार करेगा:

'...इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खामखाह भरम में डाल रहा है।'

–'ताँबे के कीड़े'

यदि नाटककार सफल हो गया और दर्शक अपने को नाटक का एक पात्र मानने के लिए तैयार हो गया (यह स्थिति नाटक के किसी एक पात्र से एकात्मकता महसूस करने से सर्वथा भिन्न है) तो दर्शक खुद अपने को समझने की स्थिति में आ जायेगा। यह समझ अपने भ्रम के बारे में, अपने बचाव के बारे में, अपने छिछलेपन के बारे में, अपने परम्परागत फूहड़पन के बारे में, या अपने बेकारपन के बारे मैं हो सकती है। एक बार अपने को और अपने चारों ओर के ढाँचे को इस प्रकार जान लेने के बाद वह जब बाहर

संसार में वापिस जाता है, तब उस संसार को इस नयी समझ के दृष्टिकोण से देखता है। यदि ऐसा होता है तो प्रश्नों का बिना उत्तर दिये ही नये नाटक का महत्व है।

नये नाटककार का काम बहुत कठिन है। बेतरतीब वार्तालाप, बेढंगी परिस्थितियों और अपरिचित पात्रों को नाटक में निभाना लेखक के लिए एक नये प्रकार के अनुशासन और चौकसी की माँग करता है। भुवनेश्वर अपने आरंभिक नाटकों में भी कथानक से बाहर के साधारण बातचीत के टुकड़े कहीं-कहीं इस तरह पिरो देते हैं कि यथार्थ दमक उठता है :

ट्यूटर : **(नीचे नजर, हाथ से हाथ दबाए)** मैं आपसे कुछ कहना चाहता था।

गृहस्वामी : **(बाहर की आवाजों को सुनते हुए)** मैं सब समझ सकता हूँ, यह आपकी मेहरबानी है। पर मैं मज़बूर हूँ। आमदनी का यह हाल है!

ट्यूटर : मुझे अफसोस है।

गृहस्वामी : **(कुछ समझ नहीं पाता)** तो तुम बाईसिकिल पर कहाँ गये थे?

ट्यूटर : मैं साईकिल पर कहीं नहीं गया...मैं गया ही नहीं।
(एकबारगी रुक जाता है।)
(सन्नाटा हो जाता है। पर यह साफ है कि किसी का बोलना ज़रूरी है।)

गृहस्वामी : **(टाँगें हिलाते हुए)** मेरा जिन्दगी का एटीट्यूटड बिल्कुल मुख्तलिफ है। तुम अपने सोशलिज्म-ओशलिज्म के जोश में...।

—'ऊसर'

यहाँ साईकिल के बारे में वार्तालाप कहीं कथानक को आगे नहीं बढ़ाता, पर उसके बिना नाटक कुछ यथार्थ से सूना अधिक हो जाता।

एक बार नया नाटक जब साहित्य में आ गया, तो वह उसमें एक साधारण योगात्मक नहीं, वरन् गुणात्मक जोड़ देता है। जैसे – मोटर का आना शहर के यातायात में एक और साधन का आना नहीं है, वह बाहर की बनावट को, सड़क को बदल डालता है, उसी प्रकार नया नाटक सारे साहित्य की भाषा को बदल डालता है। जब मोटर आती है, तब चौराहे के चबूतरे बनने लगते हैं, सड़कें चौड़ी और सीधी की जाने लगती हैं, लोग पटरियों पर चलने लगते हैं, सड़क पर खुलती खिड़कियाँ बन्द होने लगती हैं, कच्ची ज़मीन भरसक पक्की ज़मीन में बदली जाने लगती है, सिपाहियों की संख्या हर जगह बढ़ने लगती है और हर चौराहे पर उसके इशारे पर यातायात ठहरने और चलने लगता है। इतना सब हो जाने के बाद जब तेजी से लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने

की स्थिति में आ जाते हैं, प्रश्न उठने लगता है कि कहाँ जाएँ, क्योंकि मेहमानों के लिए जो लोगों के दरवाज़े अब तक के शांत-स्थिर जीवन में खुले थे, वे बन्द होते लगते हैं। आदमी बदहवास चौड़ी-सीधी सड़कों पर बंद खिड़कियों और दरवाज़ों के बीच तेजी से बेमतलब दौड़ने लगता है। मोटर के आने से सारे शहर का ढाँचा सारे जीवन के रिवाज़ में एक अनपलट अन्तर आ जाता है। नया नाटक ऐसा ही बर्ताव साहित्य के साथ करता है। उसमें एक अनपलट अन्तर ला देता है। भाषा को, उसके उपयोग करने के ढंग को बदल डालता है। लौटकर इसका प्रभाव किनारे पर खड़ी अन्य साहित्यिक विधाओं पर भी पड़ता है, पुराने पट बंद हो जाते हैं, नयी ओर के नये पट खुल जाते हैं। वहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रगति रुक जाती है, संस्कृति विलुप्त हो जाती है। जैसे–मोटर के आने को न पहचानना घातक हो सकता है, वैसे ही नये नाटक के प्रति उदासीन होना हमें अवरुद्ध कर सकता है। दुर्भाग्यवश हिंदी-साहित्य में वह दकियानूसीपन अब तक बना रहा है। 'ताँबे के कीड़े' को अस्वीकार कर लोग 'उसने कहा था' के इक्के पर बैठे, हद-से-हद, सूबेदारनी को बगल में बैठाए, इलियट के गीत गाते और उसके ऊपर से 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी' चिल्ला-चिल्लाकर अपनी गति का एलान करते, अपने में मगन बम्बूकार्ट वाले बने, मरियल घोड़े पर चाबुक-पर-चाबुक धुन रहे हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बन गये हैं।

इन बातों को ध्यान में रखकर, यदि हम नये नाटक के पास आयें तो ऊपर से बेतुकी लगती हर बात, हर हरकत का कलात्मक प्रयोजन दीखने लगेगा। नये नाटक की अपनी एक बेहद कसी हुई सम्पूर्ण दुनिया होती है। इसमें जरा भी कमी जितनी नये नाटक के लिए घातक होगी, उतनी साधारण नाटक के लिए नहीं। भुवनेश्वर अनेक कृतियों में कहीं-कहीं चूक भले ही गये हों, पर वे सही तुक से सृजनात्मक बेतुक की और नासमझी से समझ की ओर, पुराने से नये की ओर हमें अवश्य ले जाते हैं।

11. पारंपरिक रूपों और डिवाईसिज़ का सवाल

सफदर हाशमी

लोक, आदिवासी और शास्त्रीय नाट्य और नृत्य-रूपों, शैलियों और विधाओं वगैरा को लेकर हिंदुस्तानी थियेटर करनेवालों के बीच आज बहस का होना जितना स्वाभाविक है, उतना ही ज़रूरी भी है। पिछले 15-20 साल में दूसरे कई इलाकों की तरह हिंदी बोलने वाले इलाके में भी इन नाट्य-रूपों और शैलियों वगैरा का लगातार ज्यादा-से-ज्यादा इस्तेमाल होता रहा है। कितने ही अहम निर्देशकों ने पारंपरिक नाट्य-शैलियों में नाटक खेले हैं। यहाँ तक कि आज हालत यह हो गई है कि बहुत-से लोग ढोल-मंजीरे, नाच-गाने और तलवार-मुखौटे के बगैर नाटक को नामुकम्मल मानने लगे हैं। हालांकि हिंदुस्तानी नाटककारों में अभी यह प्रवृत्ति इतनी वाज़ह नहीं हई है लेकिन फिर भी दूसरी जुबानों से अनुवादित ऐसे नाटक जो पारंपरिक शैलियों से प्रभावित हैं, काफी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं और बाकायदगी से खेले भी जाते हैं। इस क्षेत्र में हबीब तनवीर, ब.ब. कारंथ, शांता गाँधी, एम.के. रैना, बंसी कौल और राजेंद्रनाथ वगैरह के काम ने एक माहौल पैदा किया है। इन हालात में इस विषय पर बहस होना स्वाभाविक ही है।

फिर इस सवाल पर बहस करना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि अच्छे बड़े पैमाने पर इस दिशा में काम होने के बावजूद अभी कोई सिलसिलेवार और बुनियादी बहस शुरू नहीं हुई। जिन निर्देशकों का मैंने जिक्र किया इनके अंदाज एक-दूसरे से मुखतलिफ़ हैं। इन लोगों के काम को देकर यह बात जाहिर हो जाती है कि समाज, कला और परंपरा की तरफ़ इन लोगों के रवैए भी एक-दूसरे से बहुत मुख़तलिफ़ हैं। मुख़तलिफ़ शैलियों और पारंपरिक कलाओं के अलग-अलग पहलुओं पर इन लोगों की पकड़ भी अलग-अलग स्तर की है। हबीब तनवीर पारंपरिक शैली के बिलकुल अंदर दाखिल होकर उसका सामना वर्तमान द्वंद्वों से करवाते हैं, जबकि राजेंद्रनाथ और शांता गांधी परंपरा से कुछ decorative elements लेकर spectacle पैदा करते हैं। अलग-अलग निर्देशक परंपरा से अलग-अलग तरह के रिश्ते कायम करते हैं। लेकिन इन इख़तलाफ़ात, इन भिन्नताओं की बुनियाद क्या है--इस पर खुलकर और संगठित रूप में बहस अभी शुरू नहीं हुई है।

इस सवाल पर बहस करना एक और वजह से भी ज़रूरी है। पारंपरिक नाट्य-रूपों के इस्तेमाल के सवाल के साथ बहुत-से दीगर सवाल भी जुड़े हुए हैं। मसलन–आधुनिक शहरी रंगकर्मियों और पारंपरिक नाट्य-नृत्य-रूपों के संबंधों का आधार क्या होगा? मसलन, वर्तमान हिंदुस्तानी थियेटर कौन से सांस्कृतिक परिवेश का हिस्सा है, उसकी ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक पृष्ठभूमि क्या है? आज के हिंदुस्तानी थियेटर की जड़ें कहाँ हैं, उसका निजी व्यक्तित्व कैसे विकसित होगा? और भी कई सवाल इस बहस से जुड़े हुए हैं–मसलन, हिंदुस्तानी इतिहास हिंदुस्तानी समाज के विकास को हम क्या समझ सकते हैं : मौजूदा निजाम की तरफ हमारा क्या रवैया है? हमने अपनी क्या भूमिका तय की है, हमारी राजनैतिक दिशा क्या है? वगैरा-वगैरा।

मेरे ख़याल में जब तक इन तमाम सवालात पर लगातार बातचीत बहस-ओ-मुबाहिसों का सिलसिला शुरू नहीं होगा तब तक हिंदुस्तानी थियेटर और पारंपरिक नाट्य-रूपों के रिश्ते गोल-मोल रहेंगे।

मोटे तौर पर छठे दशक की शुरुआत से हिंदुस्तानी थियेटर में एक बड़े बदलाव की लहर उठनी शुरू हुई। पाँचवें दशक के आख़िर तक का भारतीय रंगमंच मूलतः योरोपियन थियेटर की परंपराओं, उसके व्याकरण, उसके गठन, अनुशासन वगैरा से मुतास्सिर था। नेचुरलिस्ट थियेटर, रियलिस्ट थियेटर, थियेटर ऑफ दी ऐब्ज़र्ड, क्लासिकल वैस्टर्न थियेटर, प्राचीन ग्रीक थियेटर, शेक्सपीयरियन थियेटर, अमेरिकन ग्रुप थियेटर आंदोलन–इन तमाम धाराओं ने भारतीय थियेटर को प्रभावित किया था। आज़ादी के आंदोलन के दौरान रंगकर्मियों ने कुछ हद तक वैस्टर्न थियेटर को रैडिकल स्ट्रीम, थियेटर ऑफ प्रोटैस्ट और रूसी एवं सोवियत थियेटर वगैरा से प्रेरित होकर आज़ादी के आंदोलन में अपना योगदान भी दिया था। इन तमाम असरात ने नाटक लिखने और खेलने की शैलियों पर एक गहरी छाप छोड़ी थी। यूँ तो चौथे दशक में इप्टा की रहनुमाई में हिंदुस्तान के कई कोनों में पारंपरिक नाट्य-रूपों के साथ व्यापक तौर पर प्रयोग भी किए गए थे, लेकिन जहाँ तक मुझे मालूम है इस पूरे दौर में वैस्टर्न प्रभाव से जनमी नाट्य-शैलियाँ ही हिंदुस्तानी नाट्यकला की मूल धारा के रूप में छाई रही थीं।

आज़ादी के बाद के दिनों में समाज के बढ़ते हुए संकट ने धीरे-धीरे पूरे मुल्क को हिलाना शुरू कर दिया। पाँच साला मंसूबों की नाकामयाबी, बढती हुई भुखमरी और बदहाली, जहर की तरह फैलती बदअमनी और बेरोज़गोरी, गाँवों की आबादी का तेजी से गरीबी की गिरफ्त में आना, भ्रष्टाचार का फैलना और जंगे-आज़ादी के तमाम ख्वाबों के टूटने के साथ-साथ उस दौर के आदर्शों का लुप्त होना–इन तमाम चीज़ों ने मुल्क के पूरे ढाँचे को हिलाना शुरू कर दिया। कुंठा, नाउम्मीदी, पलायनवाद शहरी बुद्धिजीवियों और कलाकारों

में जड़ पकड़ने लगे। लेकिन इसके बरख़िलाफ इसी दौर में राजनैतिक स्तर पर जन-आंदोलन भी मज़बूत होने लगे। किसानों, मज़दूरों, नौजवानों और विद्यार्थियों की तहरीकें भी बढ़ने लगीं। कुदरती तौर पर यह तमाम रुझान रचनात्मक गतविधियों पर भी असर अंदाज हुए। जब नाटक ने इन विकासों की लय में गूँजना शुरू किया, तब शैली की मूलधारा के सवाल को लेकर भी नए सिरे से सोचने का काम होने लगा। भारतीय यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने, उसकी बेहतर अभिव्यक्ति करने की ज़रूरत ने वैस्टर्न प्रभाव से छुटकारा पाने, उसको नामंजूर करने के सिलसिले की शुरुआत की। एक साथ कई जगह नए रूपों, नई शैलियों, नई विधाओं, नई भाषा वगैरा की तलाश सरगर्मी से होने लगी।

छठे दशक के बीच का यह दौर समाज के हर क्षेत्र में नए प्रयोगों का दौर था। राजनैतिक स्तर पर गैर-कांग्रेसी पार्टियों के गठबंधन सामने आ रहे थे। 1957-59 में पहली कम्युनिस्ट राज्य सरकार बन चुकी थी। बंगाल और केरल में कांग्रेस के एकछत्र राज का युग बीत गया लगता था। दूसरे कई प्रांतों में भी गैर-कांग्रेसी मोर्चे सत्ता में आ रहे थे। समाजवादी दल तकसीम हो चुका था और मुख़तलिफ़ पार्टियों के साथ नए रिश्ते कायम कर रहा था। व्यापक जन-असंतोष आंदोलनों और ऐजिटेशंज़ की शक्ल ले रहा था। नए छात्र और मज़दूर संगठन पैदा हो रहे थे। औरतों में एक नई जागृति आ रही थी। संयुक्त परिवार का ढाँचा टूट रहा था और न्यूक्लियर फ़ैमिली का कॉन्सैप्ट लोकप्रिय हो रहा था। ठीक इसी दौर में नाट्य-जगत में भी एक तरह का विप्लव आ रहा था। बड़े पैमाने पर नई शैलियों, नए कथ्य की तलाश शुरू हो चुकी थी। यथार्थ को समझने की कोशिश में रंगकर्मी नई दिशाओं में, खासकर भारतीय परंपरा के सागर में खोजबीन कर रहे थे। महाकाव्यों और पौराणिक साहित्य पर आधारित आधुनिक नाटकों की रचना एक अहम धारा की शक्ल ले रही थी। हबीब तनवीर का काम स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में बाकायदगी से पारंपरिक शैलियों में प्रशिक्षण दिया जा रहा था। इस देशव्यापी बदलाव की लहर और नाट्य-जगत की छटपटाहट–दोनों का लगभग एक ही साथ उभरना क्या महज एक इत्तेफ़ाक था या इन दोनों में कोई गहरा रिश्ता भी था। इस सवाल पर संजीदगी से सोचने की ज़रूरत है।

मेरी समझ में नए नाट्य-रूपों की तलाश एक बहुत ही फंडामैंटल ज़रूरत है जो कि हर संवेदनशील रंगकर्मी को गहराई के साथ महसूस होती है। नाट्य-जगत को एक नई शैली से जगमग कर देने की चाह भी कलाकार में एक जोरदार छटपटाहट पैदा करती है। नए ख़यालात के इजहार की कशमकश में कलाकार नए-नए रूपों का सृजन करता है उन्हें खोजकर निकालता है। लेकिन कई मरतबा यूँ भी होता है कि कथ्य के अभाव में, अपने खालीपन से परेशान होकर कलाकार सिर्फ चकाचौंध करनेवाली, चौंका देनेवाली शैली का सहारा लेकर ही अपने वजूद, अपनी हस्ती को बनाए रखना चाहता है। शैली का जन्म

होता है कलाकार और यथार्थ के आपसी टकराव, आपसी संघर्ष से, पैदा होने की जद्दोजहद से। लेकिन जब नई शैली को बगैर इस टेंशन, इस संघर्ष, बगैर इस जद्दोजहद के हासिल करने की कोशिश की जाती है तो वहीं से कला, कथ्य, कलाकार, परंपरा–सबके विनाश का सिलसिला शुरू हो जाता है। आज अगर कोई पारंपरिक शैली तक इन कारणों से पहुँचता है तो मेरी समझ में वह परंपरा का दुरुपयोग करता है।

असल में कथ्य और रूप दोनों एक-दूसरे से इस तरह पैबस्त हैं जैसे आग और उसकी गर्मी या जैसे बिजली और उसकी रफ्तार। एक-दूसरे के बिना उनकी कोई हैसियत ही नहीं है। जिस तरह ख़यालात सिर्फ अल्फ़ाज की शक्ल में ही नुमायाँ होते हैं, उसी तरह कथ्य नाट्यरूप की शक्ल में ही पैदा होता है। जिस नाटककार, निर्देशक, या अभिनेता की जबान जितनी समृद्ध, जितनी विस्तृत, जितनी ज़रख़ेज़ होती है, उसके ख़यालात उतनी ही गहराई, उतने ही विस्तार से पैदा होते हैं। शब्दों के ऐसे खाने या साँचे बनाकर नहीं रखे जा सकते, जिनमें ख़यालात को उँडेल दिया जाए। शैलियाँ कोई लबादे नहीं है, जिन्हें अलमारी में से निकालकर कथावस्तु को पहना-उढ़ाकर सजा-सँवार दिया जाए। आजकल जो कहीं-कहीं यह टेंडेंसी नज़र आती है, यह बहुत गलत है, अवैज्ञानिक है, अकलात्मक है।

लेकिन आजकल इतनी बड़ी संख्या में जो रंगकर्मी पारंपरिक शैलियों में आधुनिक नाटक लिख और खेल रहे हैं, उनके काम को यूँ ही डिसमिस नहीं किया जा सकता। यह सारे प्रयोग, यह संयुक्त प्रयास अब एक आंदोलन की शक्ल ले चुके हैं। ज़रूरत है रंगकर्म के इस दौर के सवालात को, समस्याओं को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक संदर्भ में समझने की।

मुख्य सवाल यह है कि रंगकर्मी की रचनात्मकता का उसके मौजूदा माहौल और उसकी परंपरा से क्या रिश्ता है। यह रिश्ता किस तरह उसकी रचना को प्रभावित करता है, इस रिश्ते को सींचा जाए, विकसित किया जाए या तोड़ दिया जाए।

कुल मिलाकर यह सवाल है संस्कृति का, परंपरा का। मेरी समझ में संस्कृति एक बहुत ही व्यापक और पेचीदा कॉन्सैप्ट है। समाज के विकास की शक्तियों और उत्पादन-संबंधों के आपसी टकराव से पैदा हुए सारे अनुभव, सारे ख़यालात, सारे इमेजिज़ सारी कृतियों के कुल जोड़ का नाम है संस्कृति। परम्परा विरोधी मान्यताएँ, मूल्य, धारणाएँ विश्वास, धर्म, दर्शन, विचारधाराएँ–सभी इसके हिस्से हैं। तबकों में बँटे हुए समाज की संस्कृति भी बँटी हुई होती है। हाकिम तबके की संस्कृति समाज की हाकिम या नुमायाँ संस्कृति होती है। उससे पैदा हुई मान्यताएँ, उसके मूल्य, उसके विश्वास, उसकी कॉस्मॉलोजी पूरे समाज पर और हर तबके पर हावी होते हैं। लेकिन हाकिम संस्कृति ही समाज में पल रही वाहिद या एकमात्र संस्कृति नहीं होती। वर्ग-विभाजित समाज में एक और संस्कृति होती

है–महकूम तबके की संस्कृति, शासित तबके की संस्कृति। यह काफी हद तक हाकिम संस्कृति के अधीन होने के बावजूद कई वाईटल ऐस्पैक्ट्स में उससे बुनियादी तौर पर मुख़तलिफ़ होती है। इसके अलावा अलग-अलग फ़िरक़ों, अलग-अलग कौमों की अपनी-अपनी विशिष्ट संस्कृतियाँ होती हैं। इन तबकों, फ़िरक़ों, कौमों के आपसी संघर्ष से जो मूल धारा जन्म लेती है वह समाज को विकास की अगली कड़ी में हाकिम-ओ-गालिब संस्कृति की शक्ल इखतियार करती है। यह संघर्ष लगातार चलता रहता है। यहाँ अहम सवाल यह है कि इनमें से कौन-सी संस्कृति, कौन-सी धारा सचेत रूप से कलाकार के रचना-जीवन को दिशा देती है। इस संयुक्त संस्कृति के किन तत्वों से वह मुक्त होना चाहता है। किन्हें विकसित करना चाहता है। और इस संघर्ष में यह संयुक्त कल्चर किस तरह उसके फैसलों को प्रभावित करती है। उसके मौजूदा माहौल में विद्यमान कौन-सी सामाजिक और राजनैतिक ताकतें उसे आगे ले जाती हैं कौन-सी पीछे खींचती हैं। यह संघर्ष जितना राजनैतिक और दार्शनिक है, उतना ही सांस्कृतिक भी है। कई मानों में यह संघर्ष बुनियादी तौर पर सांस्कृतिक संघर्ष होता है।

लेकिन परंपरा? परंपरा इन तमाम असरात के मूर्त और सचेत रूप को कहते हैं। परस्पर विरोधी और पूरक शक्तियों के आपसी टकराव से पैदा होनेवाली प्रधान धाराएँ अपने समाज की मूल परंपरा होती हैं। कला के क्षेत्र में किसी विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश में विकसित होने वाले कलारूप, शैलियाँ आदि कालांतर में परंपरा की शक्ल ले लेते हैं। वे अपने सांस्कृतिक परिवेश के सिंबल बन जाते हैं और उस माहौल के लुप्त होने के बावजूद लंबे अर्से तक जिंदा रहते हैं। जीतनेवाली ताक़तें और हारनेवाली ताक़तें–दोनों ही अपनी मूल संस्कृति के मूर्त रूप गढ़ती हैं। यह रूप सरवाईव करते हैं, अपनी संस्कृति के सत, उसके निचोड़ को खुद में समाए हुए। एक बहुत ही सतही-सी मिसाल लेता हूँ। कथक नाच हुक्मरानों की दरबारी संस्कृति से, एक ठहरी हुई, इत्मीनान की संस्कृति से पैदा हुआ। दूसरी तरफ 'थिरुकुट्टू' खेतों में पसीना बहाते, रोटी के लिए संघर्ष करने वाले मेहनतकश तबके की संस्कृति से जनमा। नतीजतन कथक में ठहराव है, कांसट्रेशन और डीटेल है, डैकोरेटिव और औरनामैंटल तत्व है। थिरुकुट्टू में ऐनर्जी है, ऐलिमैंटल फोर्स है, भावनाओं के अपार सागर है, और कॉज़ और इफैक्ट में सीधा और इमीजियेट रिश्ता है। कथक जिंदगी के संघर्षों, समस्याओं और यथार्थ से जितना दूर लगता है, थिरुकुट्टू उनसे उतना ही नज़दीक लगता है, बल्कि उन्हीं का हिस्सा लगता है। दोनों ही पारंपरिक हैं। पर दोनों में से कौन-सी परंपरा जीवंत परंपरा है, संघर्ष की परंपरा है, किस परंपरा में भविष्य के बीज हैं, कौन-सी पिछड़ी हुई है रुकी हुई है, यह तो देखना ही होगा।

लेकिन इस अंतर को समझ लेने से भी सवाल हल नहीं हो जाता। जो परंपरा जीवंत है, प्रगतिशील है, उसे अपना लेंगे, जो पिछड़ी हुई, रुकी हुई है, उसे अस्वीकार कर देंगे–ऐसा मैं हरग़िज नहीं कह रहा। हमारे रंगकर्म और हमारी परंपरा के रिश्तों का सवाल इससे कहीं ज्यादा पेचीदा है। किसी परंपरा का प्रगतिशील या इन्कलाबी होना ही हमारे रचनाकर्म में उसके आने के लिए काफ़ी नहीं हैं। मेरी नज़र में सिर्फ वही परंपरा हमारी रचना का हिस्सा बनती है जिसे हम पूरी तरह अपना चुके हैं, जिसे हम ऐब्ज़ॉर्ब कर चुके हैं, ऐसिमिलेट कर चुके हैं। और इसके बाद भी वह परंपरा जब हमारे कथ्य से टकराती है तो बहुत ही बदली हुई शक्ल में प्रकट होती है। यह हमारे कथ्य को अगर समृद्ध करती है तो उससे खुद भी समृद्ध होती है। हम जिस चीज़ को पूरी तरह अपना लेते हैं उसी में हम अच्छे-बुरे का फ़र्क़ भी कर पाते हैं। जिस चीज़ से हमारा ऊपरी या बाहरी रिश्ता होता है, हम उसे सिर्फ़ अनक्रिटिकली एडमायर या रिजैक्ट ही कर सकते हैं।

इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण हमारे सामने हैं। ब्रेख्त के नाटक **कॉकेज़ियन चॉक सर्किल** का प्रोडक्शन रैना ने किया **पराई कुक्ख** के नाम से और एक प्रोडक्शन किया कविता नागपाल ने **मिट्टी ना होवे मत्रेई** क नाम से। दिलचस्प बात यह है कि दोनों प्रोडक्शन एक ही स्क्रिप्ट पर आधारित थे, यहाँ तक कि दोनों का संगीत, गीतों की धुनें तक वही थीं। लेकिन **पराई कुक्ख** एक रिलैंटलैसली पोलिटिकल प्रोडक्शन था, उसमें जोर था माहौल पर, कथ्य पर। दूसरा प्रोडक्शन स्पैक्टैक्युलर था, उसमें कैलेंडरवाली क्वालिटी थी। उन्हीं पारंपरिक धुनों के बावजूद दूसरा प्रोडक्शन मेरी नज़र में हरगिज़ नहीं जम पाया। फ़र्क़ था निर्देशकों के रवैए में, परंपरा और उनके रिश्ते की पुख्तगी में। इसीलिए जहाँ एक प्रोडक्शन में परंपरा डिवाईस बन कर गूँजी, दूसरे में वह डिवाईस न बन पाई, अपनी प्योरिटी को स्थापित करने की कोशिश में बेजान हो गई, निर्जीव हो गई।

इस सिलसिले में मैं एक बार फिर दोहराऊँगा कि कथ्य और शैली दोनों का ही जन्म एक साथ होता है, एक ही जगह से होता है–कलाकार के रचना सागर से, उसके संदर्भ, उसके परिवेश से। जब शैली के चयन का साधन कथ्य के सिवा कोई और तत्व बन जाता है तो कला मैकेनिकल हो जाती है, उसका ख़ात्मा शुरू हो जाता है। रूप तैयारशुदा शक्ल में नहीं रखे होते जिन्हें ज्यूँ का त्यूँ उठाकर इस्तेमाल कर लिया जाए।

तो हम पारंपरिक शैलियों में काम करेंगे किस बिना पर, किस आधार पर? मौजूदा निज़ाम की तरफ़ कलाकार का क्या रवैया है, यही मुकर्रर करेगा कि अतीत की तरफ़, परंपरा की तरफ़ उसका क्या रवैया होगा। सबसे पहले यह तय करना होगा कि आख़िर हम

चाहते क्या हैं, किस चीज़ की तरफ़ हम प्रतिबद्ध हैं, किन शक्तियों के साथ हम जुड़े हुए हैं, या किनसे जुड़ना चाहते हैं।

मैं नौटंकी या यक्षगान में काम करना चाहता हूँ या नैचुरिस्ट मोल्ड में यह इतना अहम नहीं है जितना यह है कि मैं क्या करना चाहता हूँ। अगर कोई कहे कि मै तो यक्षगान ही करना चाहता हूँ, या यह कि नौटंकी ही करना चाहता हूँ तो मेरे ख़याल में वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। क्योंकि नौटंकी या यक्षगान नौटंकी और यक्षगान होने के अलावा अपने-अपने संदर्भों में एक विशेष सामाजिक, दार्शनिक और धार्मिक भूमिका भी अदा करते हैं। आपको यक्षगान करने के लिए इन तमाम चीज़ों को भी अपनाना होगा। और अगर इन चीज़ों को आप यक्षगान में से निकाल देंगे तो वह यक्षगान का सिर्फ़ खोल मात्र रह जाएगा। उस खोल में दूसरी मान्यताएँ, दूसरे कॉन्सेप्ट्स, दूसरी कॉस्मॉलोजी समा पाएगी या नहीं, यह एक दीगर बहस है। मसलन ब.ब. कारंथ के **बनरम वन** को ही लीजिए। यक्षगान में शेक्सपीयर हुआ, बड़े धड़ल्ले से, बड़ी धूम-धाम से हुआ। शेक्सपीयर की जन्मभूमि तक भी पहुंच गया। लेकिन अगर मेरी राय माँगें तो उस मंचन में न शेक्सपीयर था न यक्षगान। और हो भी नहीं सकता था। मुझे नहीं मालूम कि ब.ब. कारंथ और उनके अदाकारों का यक्षगान से कितना नज़दीकी संबंध था, व उस फार्म को कितने इंटेमेटली जानते थे। मगर प्रोडक्शन से यह बात साफ थी कि यक्षगान का एक ऊपरी डैकोरेटिव इस्तेमाल हो रहा था। शेक्सपीयर तो नष्ट हो ही रहा था, मेरे ख़याल में यक्षगान के साथ भी काफ़ी बदसुलूकी हो रही थी। मेरी राय में ऐसा हर प्रयास, जिसमें एक फार्म को ज्यूँ का त्यूँ या लगभग ज्यूँ का त्यूँ उठाकर किसी दूसरे संदर्भ से निकले कथ्य पर लादा जाएगा, तो हमेशा यही होगा।

इसके विपरीत अगर कोई कहे कि वह चाहता है कि थियेटर को समाज का एक जीवंत हिस्सा बनाए, थियेटर और अवाम के रिश्तों को मजबूत बनाए, थियेटर को बहस और संघर्ष के मंच में तब्दील करे तो मेरे ख़याल में वह कलाकार जिस भी ट्रैडिशन में काम करेगा, उसे भी सशक्त और समृद्ध करेगा और थियेटर को भी। बंसी कौल का **आला अफ़सर** इसकी एक ठीक-ठाक मिसाल है।

मैं फिर बुनियादी सवाल पर लौटता हूँ। हम क्यों निकलें पारंपरिक शैलियों की तलाश में? वह परंपरा परंपरा नहीं, जिसे चिराग़ लेकर ढूँढ़ना पड़े। परंपरा वही है जो हमारे वर्तमान परिवेश में, हमारे माहौल में विद्यमान है, ऐसी परंपरा ख़ुद--ब-ख़ुद हमारी रचना-प्रक्रिया का हिस्सा बनती है। हर संवेदनशील कलाकार, हर सजग कलाकार अपनी मुख़तलिफ परंपराओं से प्रभावित होता है। केवल वे कलाकार जो अपने समाज से पूरी तरह एलिएनेटिड हैं, वही अपनी परंपराओं से प्रभावित नहीं होते, उन्हें प्रभावित नहीं करते। मसलन दिल्ली में अंग्रेज़ी थियेटर करनेवाले हमारे साथी।

कुछ साथियों का ख़याल है कि हमारे रंगकर्म में उस वक्त तक 'भारतीयता' नहीं आएगी, उसकी जड़ें, उसका मौलिक चरित्र उस वक्त तक लुप्त रहेगा जब तक उसे पारंपरिक शैलियों से समृद्ध न किया जाए। मै उनसे कहना चाहता हूँ कि 'भारतीयता' नाच-गानों, रिचुअल्ज़, पूजा-पाठ, बलि और कुसंस्कारों को दिखाने से नहीं आएगी। ऐसी भारतीयता तो सिर्फ आई.टी.डी.सी. के मतलब की ही हो सकती है। या उन तथाकथित कलाकारों के मतलब की जो साधनसंपन्न शहरी दर्शकों और विलायती लाट साहबों को थियेटर, सिनेमा, पेंटिंग वगैरा के ज़रिए 'दि रियल इंडिया' दिखाना चाहते हैं--जादू-टोने, पूजा-पाठ और धर्म-दर्शन का रियल इंडिया, भूत-प्रेतों, सुरों-असुरों और साधु-संतों का रियल इंडिया, आध्यात्मिक शांति, शांति ओउम्वाला रियल इंडिया।

यह ऐक्स्पोर्ट-ओरियंटिड भारतीयता है, यह असली भारतीयता नहीं, यह हम सभी जानते हैं, हम सभी मानते हैं।

भारतीयता हमारे रंगमंच में तभी आएगी, जब रंगकर्मी वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर, ईमानदारी और लगन के साथ मौजूदा भारतीय निज़ाम का अध्ययन, विश्लेषण शुरू करेंगे। एक ग़ैर वैज्ञानिक समझ को कितने ही पारंपरिक अंदाज से क्यों न पेश करें, वह समझ गलत ही रहेगी।

पारंपरिक नाट्य-रूपों के साथ हिंदुस्तानी रंगकर्मियों ने उस वक्त प्रयोग शुरू किए थे जब वह देश की तेज़ी से बदलती हुई स्थिति में अपनी भूमिका निभाने के लिए छटपटा रहे थे और उन्हें एक पुरानी फ़ॉर्म, एक ट्रैडिशन जकड़े हुए थे। उसे तोड़कर, उससे मुक्त होकर उन्होंने नए कथ्य और नए रूपों के साथ सामने आना शुरू किया और कई मानों में थियेटर को लोकप्रिय बनाने में कामयाबी भी हासिल की।

लेकिन बदकिस्मती से आज पारंपरिक शैलियों की यह खोज लगभग एक मज़ाक बन गई है। पारंपरिक नाटक करना आज यथार्थ से मुँह मोड़ लेने का एक बहाना बन गया है, अपने बुनियादी काम, अपने फ़र्ज़ से पीछा छुड़ाने का एक आसान साधन बन गया है। कितना कन्वीनियेंट है ऐसा करना। भारतीय सत्य के नाम पर आज हम सिर्फ़ एक रंगीन स्पैक्टेकिल दिखा के और देख के ख़ुश हो लेते हैं, जबकि असल में उस स्पैक्टेकिल की आड़ में हम दर्शकों को भारतीय सत्य से दूर ले जाते हैं।

जो आंदोलन थियेटर को ज़बान की गहराई देने के लिए शुरू हुआ था, वही आज थियेटर को एक ख़ला, एक शून्य की तरफ खींच रहा है। यह नतीजा है ग़ैर वैज्ञानिक नज़रिये से काम करने का। परंपरा, संस्कृति और वर्तमान स्थिति के तथा अपने रचनाधर्म के रिश्तों को ठीक से समझे बग़ैर जो अंधाधुंध उठा-पटक शुरू हुई, वह आज हमें यहाँ ले आई है कि नए और अच्छे नाटक लगभग न के बराबर लिखे जा रहे हैं, फिर भी मंचन बढ़ते जा

रहे हैं। आज थियेटर करना कितना आसान हो गया है। बने-बनाए कई फ़ार्मूले हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए ठीक-ठाक नाच-गा लेने वाले अभिनेताओं और साजिंदों के सिवा और कुछ भी दरकार नहीं।

तो क्या मैं यह कहने की कोशिश कर रहा हूं कि परंपरागत नाट्य-शैलियों का हम एकदम बहिष्कार कर दें। नहीं, बिलकुल नहीं। इसके विपरीत मैं यह समझता हूँ कि अपने रंगकर्म को, उसकी ज़ुबान को बढ़ाने के लिए, विस्तृत समृद्ध और गहरा करने के लिए हर रंगकर्मी को पारंपरिक शैलियों में खुद को ट्रेन करना चाहिए, उन शैलियों, उन परंपराओं को गहराई से समझना चाहिए, उनको एब्ज़ॉर्ब करना चाहिए, उनके अंदर तक चले जाना चाहिए। यह परंपराएँ इस हद तक हमारे चेतन का हिस्सा बन जानी चाहिए कि हमारे रोज़मर्रा के अनुभव, हमारे संघर्ष इनके संपर्क में आकर रिवरबरेट करें। इसके बाद हमारी अभिव्यक्ति सदियों की संचित जहालत की गूँज के साथ सामने आएगी। लेकिन यह शैलियाँ हमारी रचनाओं में बदली हुई शक्ल में प्रकट होंगी। यह ख़ुद को कथ्य के अनुरूप ढाल चुकी होंगी। अपने संदर्भ से मुक्त होकर यह एक नए संदर्भ को समृद्ध करेंगी और इसके साथ-साथ खुद भी नया जीवन पाएँगी।

इस कायाकल्प का साधन होगी हमारी दृष्टि, हमारा रवैया, हमारा नज़रिया। परंपरा के प्रति हमारी सच्ची इज्ज़त। मैं समझता हूँ कि हबीब तनवीर ने एक खास परंपरा में पूरी तरह रच-बस कर जो काम किया है, वह हमारा मार्गदर्शन कर सकता है, बशर्ते हम परंपरा में जुड़ना चाहते हैं। जो तरीका उन्होंने अपनाया है वही सही तरीका है।

परंपरा को पूरी तरह अपनाएं बग़ैर उसका इस्तेमाल नकली होता है, कृत्रिम होता है, उसमें शोषण का ऐलिमैंट होता है। इस क़िस्म की मौकापरस्ती किसी अच्छे कलाकार को शोभा नही देती। यह व्यवसायिक प्रवृत्ति है। कहने का मतलब यह है कि अगर हमारी प्रायॅरिटी थियेटर नहीं बल्कि पारंपरिक थियेटर है तो हम स्वस्थ थियेटर का सृजन नहीं कर पाएँगे। नाटककार नाटक करता है समाज से जुड़ने की ख़ातिर, समाज को प्रभावित करने के लिए। यह उसकी एक अंदरूनी ज़रूरत होती है। लेकिन जब वह अपनी अंदरूनी छटपटाहट को बाला-ए-ताक रखकर किसी एक खास तरह का थियेटर करने की कसम खा लेता है तो उसका पतन शुरू हो जाता है। फिर वह सच्चा कलाकार नहीं, बल्कि किसी थोथी शैली का कमीशन एजेंट बनकर रह जाता है। पिछले 15-20 साल के इस दौर में ऐसे हादसे कई रंगकर्मियों के साथ हुए हैं।

आख़िर में मैं एब बात और कहना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि पारंपरिक थियेटर के नाम पर हिंदुस्तानी थियेटर को वाईटलाईज़ करने के मिशन में लगे कई रंगकर्मी कहीं-न-कहीं एक घटिया क़िस्म के रिवाइवलिज़्म के भी पक्षधर हैं। वर्तमान यथार्थ को माज़ी के चश्मे

से देखने, मौजूदा संघर्षों, मसलों, द्वंद्वों को अतीत के बिंबों, अतीत की मिथों और मेटाफरों से आँकने का काम मुझे तो एक साज़िश-सा लगता है।

मेरे ख़याल में मुख्य सवाल यही है कि वर्तमान में हम कहाँ, किस तरफ़ खड़े हैं। हमारी क्या पोजिशंज हैं। क्या हम आज की मुख्य धारा, यानी जनवादी परिवर्तन की धारा, के साथ हैं, या हम किसी ठहरी हुई धारा के साथ हैं। यही निर्धारित करेगा कि हमारा नाता किस परंपरा से जाकर जुड़ेगा, उस परंपरा से हमारा रिश्ता क्या होगा, उसे हम किस तरह इस्तेमाल करेंगे।

('सफदर' पुस्तक से साभार)

12. भुवनेश्वर और 'ताँबे के कीड़े'

जीवन परिचय

भुवनेश्वर की रचनाओं में जीवन की विसंगत स्थितियों की गहरी पहचान मिलती है। उनके जीवन के बारे में पढ़ने पर ऐसा महसूस होता है कि यह विसंगति उनके दुखद जीवन से उपजी है। जीवन के यथार्थ को उन्होंने नजदीक से भोगा था। वे व्यवहार कुशल व्यक्ति नहीं थे इसलिए परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर सके।

भुवनेश्वर का जन्म उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर जिले में 1910 ई. में हुआ था। उनके पिता का नाम ओंकार बख्श था। अभी भुवनेश्वर डेढ़ साल के ही थे तभी उनकी माता का देहांत हो गया। उनके लालन-पालन की जिम्मेदारी उनकी सौतेली माता पर आ गई। यहाँ से उनके दुखद जीवन की शुरुआत हुई। अभावों से भरी जिंदगी और परिवार में उपेक्षित जीवन ने उनके व्यक्तित्व को सामान्य नहीं रहने दिया। यद्यपि भुवनेश्वर को अपने चाचा महामाया प्रसाद से काफी स्नेह मिला, लेकिन वह उनके घावों को भरने के लिए नाकाफी था। जब भुवनेश्वर चौदह वर्ष के थे, तभी उनके चाचा का भी देहांत हो गया। आर्थिक अभाव और परिवार में उपेक्षित महसूस करने वाले भुवनेश्वर को आखिरकार घर छोड़ना पड़ा। पारिवारिक अंकुश के अभाव में वे स्वच्छंद और स्वेच्छाचारी हो गए। यही उनकी आवारगी का कारण बना।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा शाहजहाँपुर में हुई। इंटरमीडिएट तक की शिक्षा उन्होंने बरेली में प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए वे इलाहाबाद आ गए। साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। यद्यपि वे मेधावी छात्र थे, लेकिन पाठ्य पुस्तकों में उनका मन कम ही रमता था। अपने छात्र जीवन में ही उन्होंने हिंदी के अलावा अंग्रेजी और उर्दू साहित्य का पर्याप्त अध्ययन कर लिया था।

उनकी आरंभिक रचनाएँ प्रेमचंद की पत्रिका 'हंस' में प्रकाशित हुई। उनका संबंध प्रेमचंद से भी रहा। कुछ अर्से तक वे 'प्रगतिशील लेखक संघ' से भी जुड़े रहे। पढ़ाई छोड़ने के बाद उन्होंने इलाहाबाद और लखनऊ को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। रोटी कमाना उन्हें शायद जीवन का सबसे कठिन और नीरस काम लगता था। उनके विषय में फैली कई तरह की

बातों ने उन्हें मशहूर बनाया। वे एक-साथ ही आवारा, जीनियस, पागल सभी समझे जा रहे थे। मृत्यु से लगभग दो साल पूर्व उनकी मानसिक अवस्था अत्यंत चिंतनीय हो गई। 1957 ई. में बनारस की एक धर्मशाला में वे मृत पाए गए। भुवनेश्वर की मृत्यु एक बेचैन जीवन का त्रासद अंत था।

साहित्यिक योगदान

भुवनेश्वर की रचनाशीलता की मूल समस्या थी जीवन में व्याप्त विषमताओं से उपजे कटु यथार्थ को साहित्य में किस तरह प्रस्तुत किया जाए। वे यदि एक ओर सामाजिक यथार्थ की जटिलता को अक्षुण्ण रखते हुए साहित्य में व्यक्त करना चाहते थे तो दूसरी ओर वे व्यक्ति के अंतर्मन में निहित उलझनों, अंतर्विरोधों को भी उतने ही महत्व और प्रभावकारी रूप में प्रकट करने के इच्छुक थे। यह किसी भी रचनाकार के लिए चुनौतीपूर्ण काम था। भुवनेश्वर ने इसके लिए कहानी और एकांकी नाटक विधाओं को चुना। एक विधा के रूप में एकांकी नाटक का रचनात्मक प्रयोग करने में वे इतने दक्ष थे कि आज उनकी पहचान नाटककार के रूप में ही ज्यादा है। एकांकी और कहानी के अलावा उन्होंने कविता और आलोचना के क्षेत्र में भी लेखन किया। उनका साहित्यिक बोध जीवन की निरर्थकता को केंद्र में रखकर गतिशील हुआ था। उनका बौद्धिक संसार बड़ा ही कठोर और मर्मपूर्ण था। प्रेमचंद ने उनके बारे में लिखा था, "भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति है, और मर्म को हिला देने वाली वाक्चातुरी है।"

हिंदी एकांकीकारों में भुवनेश्वर की अपनी विशिष्ट पहचान है। उनकी समानता किसी दूसरे एकांकीकारों से नहीं हो सकती। भुवनेश्वर पर इब्सन, बर्नार्ड शॉ, डी.एच. लारेंस जैसे प्रख्यात लेखकों का प्रभाव था। वे फ्रायड की मान्यताओं से भी प्रभावित थे। एकांकी नाटकों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थितियों पर उनकी अद्‌भुत पकड़ है, उनको वे पैनेपन और सूक्ष्म व्यंग्य के जरिए व्यक्त करते हैं। उनके पात्रों में बौद्धिक जटिलता है। वे प्रायः किसी-न-किसी मनोग्रंथि के शिकार होते हैं। उनकी अधिकांश एकांकियों में स्त्री-पुरुष संबंध, विवाह, प्रेम आदि से संबंधित मसलों को उठाया गया है। इसमें कितना सामाजिक पर्यवेक्षण से उपजा है और कितना पश्चिम साहित्य का प्रभाव है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। इतना ज़रूर है कि आधुनिक जीवन की पहचान में वे सबसे आगे रहे। उन पर पश्चिम के एब्सर्ड नाटकों का प्रभाव भी माना जाता है। लेकिन प्रख्यात एब्सर्ड नाटक भुवनेश्वर के एकांकी नाटकों के बाद ही प्रकाशित हुए हैं। वस्तुतः द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की जिन स्थितियों ने एब्सर्ड नाटकों की रचना को संभव बनाया, लगभग वैसे ही स्थितियों से उपजी मानसिकता के प्रभाव में हिंदी का तत्कालीन लेखक भी था।

भुवनेश्वर का पहला एकांकी नाटक 'श्यामा' के नाम से 'हंस' के दिसंबर 1933 अंक में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद भी कई एकांकी नाटक इस पत्रिका में प्रकाशित हुए। भुवनेश्वर द्वारा लिखे गए प्रमुख एकांकी नाटक निम्नलिखित हैं :

एक सम्यहीन साम्यवादी (1934)
रहस्य - रोमांच (1935)
लॉटरी (1936)
मृत्यु (1936)
रोशनी और आग (1941)
ताँबे के कीड़े (1946)
इतिहास के केंचुल (1948)

इस बीच उन्होंने तीन नाटकों 'आजादी की नींद', 'जेरूसलम' और 'सिकंदर' की रचना की। भुवनेश्वर की प्रवृत्ति धीरे-धीरे सामाजिक नाटकों से ऐतिहासिक नाटकों की ओर हो रही थी।

1935 ई. में उनका एकांकी संग्रह 'कारवां' प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक ने उनको लेखक के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इसकी समीक्षा लिखते हुए प्रेमचंद ने कहा था, "'कारवाँ' हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नई प्रगति का प्रवर्त्तक है, जिसमें बर्नार्ड शॉ और आस्कर वाइल्ड का सुंदर समन्वय है।" भुवनेश्वर जीवन में व्याप्त बनावटीपन और हिपोक्रेसी को अपने लेखन का विषय बनाते हैं। उनके नाटकों में दो तरह के पात्र हैं। एक वे जो बाहर से आदर्शवादी नज़र आते हैं लेकिन जिनमें अनेक दुर्बलताएँ - कपटीपन और मिथ्याचारिता व्याप्त हैं। दूसरी तरह के पात्र वे हैं जो अंतर्मन से आदर्शवादी हैं, लेकिन परिस्थितियों ने जिनको कमज़ोर बना दिया है। वे अपनी रचनाओं में मनोवेगों को गहनता और सूक्ष्म विश्लेषण के साथ प्रस्तुत करते हैं। भुवनेश्वर के यथार्थवाद में नग्न सच्चाई झलकती है। उनके नाटकों में दिए गए रंग संकेतों पर पश्चिम के यथार्थवादी रंगमंच का प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है।

भुवनेश्वर ने कविताएँ भी लिखी थीं। कुछ कविताएँ उन्होंने अंग्रेजी में भी लिखीं। लेकिन एकांकी नाटकों के बाद उनकी कहानियों पर ही अधिक चर्चा हुई। उनकी कहानियों पर अतियथार्थवाद का प्रभाव नज़र आता है। 'भेड़िए' उनकी प्रख्यात कहानी है। 'मौसी' कहानी को प्रेमचंद ने अपने प्रतिनिधि कहानी संग्रह में स्थान दिया था। 'सूर्यपूजा' एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है। भुवनेश्वर ने निराला पर आलोचनात्मक निबंध भी लिखे थे। कह सकते हैं कि भुवनेश्वर एक प्रतिभाशाली लेखक थे, लेकिन परिस्थितियों ने उन्हें अपना सर्वोत्तम रचने का अवसर नहीं दिया।

रचना के बारे में

'ताँबे के कीड़े' भुवनेश्वर की प्रतिनिधि एकांकी है। इसका रचनाकाल 1945-46 ई0 है। अमृतराय ने नवंबर 1946 में 'हंस' में इसे प्रकाशित किया था। पश्चिम में जिसे एब्सर्ड नाटक के नाम से जाना जाता है उस शैली में यह नाटक लिखा गया है। नाटक में आज की समाज व्यवस्था पर तीख व्यंग्य किया गया है। इस नाटक के पात्र विभिन्न प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवन की अर्थहीनता के वाहक ये बेचैन पात्र बदलाव के लिए उत्सुक भी नज़र आते हैं। वे यदि एक ओर पुरानी आस्था को नष्ट करना चाहते हैं तो नये का निर्माण भी करना चाहते हैं।

'ताँबे के कीड़े' में न कोई कथा है और न मंच विधान। मंच के नाम पर काला परदा और झुनझुना लिए हुए अनाउंसर स्त्री है। यह नाटक अजीब, शिथिल और गतिहीन लग सकता है। लेकिन एक बार नाटक का सूत्र हाथ में आने के बाद नाटक के अर्थ और प्रभाव से पाठक (और दर्शक) अछूता नहीं रहता। भय और मृत्यु का प्रतिरोध करने का सबसे सशक्त ढंग है : जीवन को जीने लायक बनाना। नाटक का पूरा संघर्ष आदमी को मशीन नहीं बनने देने के लिए है।

इस एकांकी नाटक में कोइ गंभीर कथानक नहीं है। पात्रों की आपसी बातचीत में ही नाटक विकसित होता है। बातचीत में भी कोई तारतम्य नहीं प्रतीत होता। नाटककार का विरोध आधुनिक जीवन की बंधी हुई पद्धति से है। रचना की नाटकीय संवेदना जीवन के बारे में भ्रम टूटने से पैदा होती है। यदि सही भाषा का चुनाव किसी कृति की सफलता का मापदंड माना जाए तो 'ताँबे के कीड़े' एक अद्वितीय रचना है। सतह से अर्थहीन प्रलाप की तरह लगने वाली नाटक की भाषा मानवीय संवेदना के गहरे अनुशासन तथा तीखी अनुभूति से उपजी है। आवाज, चीख और ख़ामोशी का भी अत्यंत अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। विसंगतवादी रंगमंचीय शैली में लिखा गया यह नाटक दृश्य बंध और दृश्य सज्जा में यथार्थवादी है। नाटक की भाषा हिंदुस्तानी और कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

शब्दावली

साफा :पगड़ी
शोख : गहरा चमकदार
बेसरोसमान : बिना समान के
आदि मुहूर्त : प्रारंभिक क्षण
एक पत्थर : जड़ता (प्रतीकार्थ)
एक पत्ती : गतिशील भाव (प्रतीकार्थ)
एक शब्द : अभिव्यक्ति क्षमता (प्रतीकार्थ)

जीवन का हसीन संगमरमर : अंतरात्मा (प्रतीकार्थ)
काँच के बीज : कृत्रिम संवेदना के प्रतीक
ईजाद : आविष्कार
पायदार : मजबूत (टिकाऊ)
बादल : भाव (प्रतीकार्थ)
सूरज : बुद्धि (प्रतिकार्थ)
आईना : बुद्धि की छाया (प्रतीकार्थ)
अंधा कुआँ : अंतस्चेतना का अंधेरापन (प्रतीकार्थ)
तहजीबयाफ्ता : शिष्टतापसंद
रिक्शा : निरर्थकता का प्रतीक (मिथ ऑफ सिसिफस की तरह)
मसरूप : कार्यरत
सीटी बजाना : सृजन की आकांक्षा (प्रतीकार्थ)
काँच का सूटर : बाह्य परिस्थितियों के साथ अंतरंग नहीं होना। अनुभवहीनता का बोध होना।
लम्हे : क्षण
मुकम्मिल : संपूर्ण
न्यूरोटिक : मानसिक रोगी

व्याख्या के लिए प्रमुख अंश

1. हम खुद नियम और मनुष्य को कायल कर देते हैं। और हमारे अंदर के अंधकार से शक्ति फूट पड़ती है।

   अना. : **(झुनझुना बजाकर)** हम अपनी आत्मा से रचते हैं, और शरीर से नाश कर देते हैं। कि हम फिर अपने सत्य से उसे सजायें।

   (स्क्रीन के पीछे की आवाजें)

   आओ, हम इसे किसी बाजार में बेच लें। मृत्यु और नाश की इस निर्दय कैमिस्ट्री को क्षण भर के लिए खत्म कर दें, कि हम इन आँखें तरेरते सवालों से बच सकें। हम वही भूली हुई भाषा याद करते रहते हैं ... एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द!

2. बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरों का बोझ ढोता हूँ। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। आईने में मैं अपना मुँह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का शासन होगा। आईने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग-अलग कर देंगे।

3. मैं एक थका हुआ अफसर हूँ, **(ऊँघा हुआ सा)** मैं बहुत थक गया हूँ। अंधे कुएँ में... जैसे एक-एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर....मरी हुई सूखी बिल्ली....बेबी का जाँघिया-टूटा कनस्टर...वैसे ही.... वैसे ही थकान मेरे अंदर जमा हो गई है एक अवसाद और थकान।

4. **(डरकर, नहीं,)** मैं यह सब नहीं करूँगा। तुम ऐसे गैर-रियाज़ शब्द क्यों बोलती हो? मथना ! मैं नहीं जानता कैसे, लेकिन यह जानता हूँ कि यह बात खूबसूरती से कही जा सकती है। नहीं, मैं एकाबरगी शरीर को दिमाग के बंधनों से अलग कर दूँगा। मैं लड़ूँगा, मैं शहीद हो जाऊँगा, मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा **(जैसे वह डूब रहा हो)** मैं सूरज का गला घोंट दूँगा।....मैं.....मैं....

5. **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन.... करना होगा **(रुआँसा होकर)**.... और फिर तब हमारी आत्मा और शरीर के मंथन से जो निकलेगा, वह हमें मार डालेगा। हमारा अंत कर देगा। तुम बूढ़ी हो जाओगी। जीवन-क्रीड़ा नन्हीं सी रतन-जड़ी रिस्टवाच की तरह जम जाएगी।

6. **(जोशीली स्पीच)** मैं इसके खिलाफ लड़ूँगा। मैं आंदोलन करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूँगा। देखों मैं क्या करता हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह केवल अंधा-कुआँ है....मेरी बीबी बादलों में रहती है, पागल आया हम सबको बचाएगी।

व्याख्या का उदाहरण

अभी तो दो मिनट का एक नाच गाना और है। ... और न जाने इस गाने से अंत करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है? मेरी समझ से तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखने वाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि 'जिंदगी और नाटक का प्राब्लम ... एक ही है। यानी लम्हे को मुकम्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उसमें एक केंद्रीय महत्व यानी सेंट्रल सिगनीफिकेंस हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए।'

संदर्भ-संकेत

हिन्दी एकांकीकारों में भुवनेश्वर का स्थान प्रमुख है। उनकी एकांकी आधुनिक संवेदना के निकट है। उनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन के विसंगतिबोध का नीरव स्वर सुनाई पड़ता है। जीवन की जड़ होती हुई संवेदना के प्रति उनमें गहरी चिंता का भाव है।

उपर्युक्त अंश 'ताँबे के कीड़े' शीर्षक एकांकी में से लिया गया है। इसका प्रकाशन काल 1946 ई. है।

यह अंश नाटक के अंत में स्त्री अनाउन्सर द्वारा नाटक पर टिप्पणी से लिया गया है। महिला अनाउन्सर के इस संवाद में नाटकीय मर्म का रहस्य छुपा हुआ है। भरतवाक्य के रूप में नाटकीय उद्देश्य को यहाँ रखा गया है। नाटककार की चिंता यहाँ नाटक को न समझने के प्रति है।

व्याख्या-संकेत

नाटक खत्म नहीं हुआ है। नाटक जीवन के साथ-साथ चलता रहता है। इसलिए समाप्त नहीं होता। नाटक के अंत को सरस बनाने के लिए नाटक के अंत में नाच गाना रखा गया है। उस गाने में लय नहीं है। जिस तरह से जीवन से लय की समाप्ति हो चुकी है, उसी तरह से नाटकीय लय भी खो गई है। नाटक और जीवन दोनों समानांतर चलते हैं। दर्शक के मन में जो खीझ और सवाल पैदा होंगे, उसकी चिंता नाटककार में है। वह स्वयं उससे आशंकित है। जिन्दगी की उद्देश्यहीनता और निरर्थकता की छाया नाटक पर भी पड़ती है। जीवन में समस्या का हल नहीं समस्या की शुरुआत होती है।

जिन्दगी का हिस्सा होने के कारण दोनों की समस्या में समानता है। क्षण को संपूर्णता में जीना। इसे अस्तित्ववादियों ने अपनाया था। जीवन को क्षण में बाँटकर उसका आस्वादन करना। नाटक में एक क्षण दूसरे क्षण से मिलकर संपूर्णता में कुछ सृजन करते हैं। जीवन क्षण में ठहरा हुआ नहीं क्षणों के युग्म में कुछ रचता हुआ होता है। ब्रेख्त ने एपिक थियेटर के सिद्धान्त में पहली बार दर्शक को नाटक में हस्तक्षेप करने का संकेत दिया था। दर्शक की बुद्धि को प्रेरित करना, नाट्यमंचन के दौरान उसको सचेतन रखना उसका उद्देश्य था। यहाँ भुवनेश्वर नाटक के संपूर्ण सामाजिक उद्देश्य का बोध कराते हैं। नाटक मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है। उसका कुछ उद्देश्य है तो यही कि, नाटक के केन्द्रीय कथ्य से दर्शक-समाज की बुद्धि को सक्रिय रखना है। इसी अर्थ में नाटक सामाजिक विधा है, जिसका प्रभाव सीधा होता है।

भुवनेश्वर में न्यूरोटिक होने के दर्प और पीड़ा का अहसास है। सृजन में कुछ न कुछ नया होता है। जो हमारी पुरानी मान्यताओं, आस्थाओं और रूढ़ियों पर प्रहार करता है। एक महत्वपूर्ण रचना वह नहीं है जो एक ढाँचा और एक पद्धति का निर्माण करती है। अपितु वह है जो हमारे बने बनाये प्रतिमानों को तोड़ देती है। इसीलिए तो कबीर के यहाँ जब ज्ञान की आंधी चलती है तो कुछ नहीं बचता एक-एक खंभा गिर जाता है। जमाने की समझदार निगाहें उन्हें भी न्यूरोसिस कह सकती है। परंतु यह सच है ऐसे आत्म विश्वासी लोगों में ही कुछ नया रचने की ताकत होती है। हमारे जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी

शायद यही है कि हम पद्धतियों, रूढ़ियों और सीमाओं के बीच जीने के आदी हो गए हैं। नये विचार से हम भय खाते हैं। उसे अपनाने से घबड़ाते हैं। अपनी सीमाओं और मर्यादाओं का ढ़ाँचा खड़ा करने की अपेक्षा क्रांतिकारी विचार को ही पागलपन करार दे देते हैं। गैलेलियों का उदाहरण बड़ा अच्छा है। उसे सच बोलने के लिए जीवन का बलिदान देना पड़ा। समाज की इन व्यवस्थाओं और व्यवहारों से ऊब कर नाटककार कहता है कि पूरे नाटक में मतलब नहीं है, वह हमें केवल भरम में डाल रहा है।

इस पूरे प्रसंग में नाटककार का एक उद्देश्य निहित है। वह नाटक का उद्देश्य समझाने के साथ-साथ हमें विचारों के खुलेपन में ले जाता है। वह किसी भी रूढ़ि के खिलाफ है। व्यक्तित्व का आकार इतना छोटा नहीं होना चाहिए कि उसमें हमारे नये भाव बोध को जगह न मिल सके।

नाटक की व्याख्या इसी विचार क्रम में करनी चाहिए।

विशेष-संकेत

नाटकीय मौन का कुछ सार्थक प्रयोग देखने को मिलता है।
नाटककार ने नाटक में भाषण कला शैली का अच्छा प्रयोग किया है।
बोलचाल के अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सहायक पुस्तकें

हिन्दी नाटक : बच्चन सिंह, राजकमल प्रकाशन लि., नई दिल्ली
भुवनेश्वर की रचनाएँ - डॉ. शुकदेव सिंह
भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - राजकुमार शर्मा

मूल पाठ : एकांकी

ताँबे के कीड़े

पात्र

महिला अनाउंसर
रिक्शेवाला
थका अफसर
एक परेशान रमणी
एक मसरूफ पति
कुछ लड़के
पागल आया

(यह नाटक ड्राइंगरूम के लिए ही है।)

एक दीवार से जरा हटाकर काला स्क्रीन खड़ा किया गया है जिसके बराबर अनाउंसर **(जिसे स्त्री ही होना चाहिए)** खड़ी है। अनाउंसर के कपड़े रंग-बिरंगे होते हैं। एक फूलदार ड्रैसिंग गाऊन, रेशमी साफा और एक शोख चौड़े कमरबंद से काम चल सकता है। उसके हाथ में एक बड़ा-सा तिब्बती लामाओं का-सा झुनझुना है।)

अना.: **(हाथ के झुनझुने को हिलाकर)** अकेले और बेसरोसामान हम इस संसार में आए।

स्क्रीन के पीछे से कुछ गंभीर मर्दानी आवाज़ें :

कौन-कौन यहाँ सदा अकेला नहीं रहा? किस किस ने अपने पड़ासी का चेहरा पहचाना?

स्त्री : किसने-किसने अपनी आत्मा में जीवन के आदि मुहूर्त को सिसकते-सुबकते नहीं सुना?

अकेले और बेसरो-सामान हम भूले हुए रास्ते खोजते हैं। हम अपना खोया हुआ भाई तलाश करते हैं, जो बचपन में घर छोड़कर चला गया है। एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द...जिसके पीछे एक अनजानी और अनहोनी शुरूआते हैं।

(अनाउंसर झुनझुना हिलाती है, आवाज़ें रुक जाती हैं।)

अना. : हम सवाल उठाते हैं.....

(स्क्रीन के पीछे की आवाज़ें)

हम खुद नियम और मनुष्य को कायल कर देते हैं। और हमारे अंदर के अंधकार से शक्ति फूट पड़ती है।

अना. : **(झुनझुना बजाकर)** हम अपनी आत्मा से रचते हैं, और शरीर से नाश कर देते हैं। कि हम फिर अपने सत्य से उसे सजायें।

(स्क्रीन के पीछे की आवाजें)

आओ, हम इसे किसी बाजार में बेच लें। मृत्यु और नाश की इस निर्दय कैमिस्ट्री को क्षण भर के लिए खत्म कर दें, कि हम इन आँखें तरेरते सवालों से बच सकें। हम वही भूली हुई भाषा याद करते रहते हैं ... एक पत्थर, एक पत्ती, एक शब्द!

अना. : **(झुनझुना हिलाकर)** हम सवालात पैदा करते हैं। **(झुनझुना हिलाकर)** जो समय और ऋतुओं का दर्पण दमकते हुए हीरों की तरह काट देते हैं। सवालात जो वीरान सड़कों पर छिपे हुए जालों की तरह बिछे रहते हैं।)

(झुनझुना)

हम मृत्यु को निरुत्तर कर देते हैं।

(जोर से झुनझुना बजाती है)

मृत्यु हमारे सिरहानें लोरियाँ गाती है। हम अपनी जानें खतरे में डाल सकते हैं, पेंशनें नहीं।

गांग

(अब बत्तियाँ बुझाई जा रही है। एक मिनट में पूरा अंधेरा हो जाता है, सिर्फ अनाउंसर एक फीकी फुटलाइट में काली स्क्रीन के सामने दमकती रहती है।)

अना. : **(गंभीर स्वर)** जीवन का संगमरमर
जीवन का हसीन संगमरमर।
जीवन का घायल सगमरमर।
खून बहता हुआ संगमरमर।

(झुनझुना)

(स्क्रीन के पीछे)

एक आवाज : **(पुरुष)** यहाँ क्या हर वक्त पानी बरसता है? यह कैसी घटा उमड़ रही है!

दूसरी : भीग जाएँगे, मर जाएँगे, हम इस तरह अपनी जानें खतरे में नहीं डालेंगे।

तीसरी : तुम बिस्तर में ही रहो, तुम्हें जुकाम है, तुम्हें निमोनिया भी हो सकता है।

(स्त्री की आवाज)

निमोनिया तो बहुत साधारण है, क्यों क्या मुझे पैंडीज डिज़ीज नहीं हो सकती है?

(एक आया की आवाज)

बाबा ! **(पुकारती है)** जान बाबा, मशालची बाबा....तुम घर से कितनी दूर निकल जाते हो। मैं कब से तुम्हारा सूटर तुम्हें ढूँढ रही हूँ।

(स्त्री की आवाज)

हम तो यहाँ खड़े-खड़े अकड़ गए, कितनी जोर से पानी आया है, मेरे सारे बीज सड़ जाएँगे।

(एक और आवाज)

हमारी सबसे नई ईज़ाद। काँच के बीज। इनको बराबर नहीं बोना पड़ता। एक बार बोओ, हज़ार बार काटो। यह सड़ते नहीं। उगने से इंकार नहीं करते।

(अनाउंसर झुनझुना बजाती है)

अना. : सीसे के बीज काँच के बीजों से ज्यादा पायदार होते थे।

(रिक्शे की घंटी की आवाज)

रिक्शेवाला : बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया। मैं दूसरे का बोझ ढोता हूँ। मेरे रिक्शे में आईने लगे हैं। आईने में मैं अपना मुँह देखता हूँ। सूरज नहीं रहा। अब धरती पर आईनों का शासन होगा। आईने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग-अलग कर देंगे।

थका अफ़सर : मैं एक थका हुआ अफसर हूँ, **(ऊंघा हुआ सा)** मैं बहुत थक गया हूँ। अंधे कुएँ में...जैसे एक-एक करके चीजें जमा हो जाती हैं। कुएँ की डोर....मरी हुई सूखी बिल्ली....बेबी का जाँघिया-टूटा कनस्टर...वैसे ही....वैसे ही थकान मेरे अंदर जमा हो गई है एक अवसाद और थकान।

रि.वा. : **(तेज़ी से)** आह, अफ़सर ! आगे देखकर चलो।

(टकरा जाता है) आह ! तुमने मेरा एक आईना तोड़ दिया।

(अनाउंसर हँसती है - झुनझुना बजाती है।)

(स्त्री की आवाज)

साधारण और अलसाई मैं ऊब गई हूँ। मेरा मन उचट गया। मैं सारा संसार मथूँगी अपने अंदर बाहर, सब मथूँगी। लेकिन चुपके से जैसे किसी को मालूम न हो।

(कुछ रुककर - जैसे किसी ने कुछ कहा - एक धीमा स्वर) 'कितनी प्यारी है, है तुम्हारी हंसी.... चाँदनी सी'....

नहीं, मेरी हँसी में न सूरज है न चाँद। मुझे यह सब सोचने का वक्त नहीं है। मुझे बहुत कुछ करना है

(धीमे से) मुझे....तुम्हें भी मथना है।

(कुछ अस्पष्ट आवाजें। अनाउंसर भी अपना झुनझुना हिला रही है, पर उससे कोई आवाज नहीं निकलती।)

नहीं.....नहीं.....सँवारने का काम भी मेरा ही है।

(धीरे से) मेरा सिर्फ काम है मथना, सृजन जिस बेरहम कानून से होता है, यह तुम जानो। आह, इस बालक के चेहरे पर तो झुर्रियाँ हैं। इसकी हँसी में तो मधुमक्खियाँ हैं।

(अनाउंसर हँसती है और झुनझुना बजाती है।)

(उसी स्त्री की आवाज)

तहजीबयाफ्ता सर्दी में आदमी की फीलिंग्स भी जम जाती है। जानते हो तुम स्वीटहार्ट, इतनी देर से तुमने जो कुछ कहा, मैंने कुछ सुना ही नहीं। शब्द तो बड़े सुंदर थे - बिलकुल बच्चों की तरह।

एक मस. पतिः इसीलिए तो मैं शराब पीता हूँ। मैं सोचता हूँ अभी जाकर पियूँगा, पीता जाऊँगा, पीता जाऊँगा, पीता जाऊँगा....जब तक कि मैं फिर से एक बच्चा न हो जाऊँ....फिर तब शायद जो मैं कहूँगा, वह तुम्हें समझना ही पड़ेगा।

स्त्री : देखो, तुम अपनी आत्मा मथते क्यों नहीं, तुम अपना शरीर क्यों नहीं मथते....

मस. पति : **(डरकर)** नहीं, मैं यह सब नहीं करूँगा। तुम ऐसे गैर-रियाज़ शब्द क्यों बोलती हो? मथना ! मैं नहीं जानता कैसे, लेकिन यह जानता हूँ कि यह बात खूबसूरती से कही जा सकती है। नहीं, मैं एकबारगी

शरीर को दिमाग के बंधनों से अलग कर दूँगा। मैं लड़ूँगा, मैं शहीद हो जाऊँगा, मैं अजनबियों की भाषा बोलूँगा **(जैसे वह डूब रहा हो) मैं** सूरज का गला घोंट दूँगा।....मैं.....मैं.....

(अनाउंसर हँसती है और झुनझुना बजाती है।)

(एक परेशान रमणी का स्वर)

ओफ़ ! तुम्हारा इंतज़ार करते-करते तो हम बूढ़े हो चले थे। यदि तुम्हारा सात बजे आने का वायदा है। यह क्या? तुम्हारा चेहरा क्यों उतरा है? तुम क्या बीमार हो? डर गए हो कहीं? क्या बात है? तुमने कहीं कुछ देखा है?

म. पति : मैंने कुछ देखा है जरूर, लेकिन इस वक्त मालूम होता है, मैंने देखा नहीं, सिर्फ़ सुना है।....

(अनाउंसर स्क्रीन से सटे हुए स्टूल पर बैठ जाती है।)

....मैंने सुना कि इन बादलों से कोई निकल कर मुझसे बातें करने लगा। तभी हुई बेलाग बातें -- जैसे कोई मन ही मन घुटने वाला आदमी पहली बार शराब पीकर करता है....

परे. रमणी : तब तुमने क्या किया।

मस. पति : मैंने, मैंने कुछ नहीं किया। मैंने थोड़ी-सी शराब और पी ली और निर्मला के घर गया। ऐसे ही जरा-सा दिल बहलाने।

परे. रमणी : किसका, अपना या निर्मला का? तुमने फिर शराब पी, तुममें कोई कैरेक्टर नहीं है। तुम आदमी से खींचे जाने वाले रिक्शे पर भी बैठ सकते हो....तुम तो लड़खड़ा रहे हो।

(रिक्शे की घंटी। अनाउंसर झुनझुना काली स्क्रीन से टिकाकर आडीटोरियम में बैठ जाती।)

परे. रमणी : रिक्शेवाले, जल्दी ले चलो। साहब की तबियत ठीक नहीं है।

रि. वा. : **(घंटी बजाता है, जैसे अभी जगा है)**

मस. पति : वहाँ दूर ऊनी बादलों में।

रि. वाला : अहा ! तुम भी वैसी ही बातें कहते हो। अभी तो थके हुए अफ़सर ने इससे कहा कि यह अंधा कुआँ नहीं है, यह रिक्शा है। मेरे रिक्शे में शीशे हैं। पागल आया ने मेरा एक शीशा तोड़ डाला। नहीं-नहीं !

परे. रमणी : **(रिक्शे वाले से)** किससे कहा तुमने कि यह कुआँ है?

रि. वाला : **(घंटी बजाते हुए)** किसी से नहीं। मैं जरा कुछ सोचता सा बहुत थक गया था, अभी मैंने ऐसा देखा। एक अफ़सर मेरे पास आया, वह बहुत थका हुआ था। कुछ सोचकर वह भी शायद बेहोश हो गया था।

परे. रमणी : अच्छा आगे देखो...!

(रिक्शे की घंटी)

परे. रमणी : **(पति से)** तुम निर्मला के घर गए थे, निर्मला ने मेरे बारे में कुछ कहा था? मुझे पूछा?

मस. पति : **(स्वप्निल)** निर्मला ने कहा? निर्मला ने कुछ नहीं कहा। निर्मला ही तो बादलों में चली गई थी.... तुमने सुना.... मुझे आज लगा, निर्मला ऊनी बादलों में रहती है। .... ऊनी बादलों में।

(अना. आडीटोरियम से लपककर झुनझुना बजा देती है। आवाज़ें रुक जाती हैं।। वह फिर झुनझुना बजाती है....कुछ लड़के हँसते शोर मचा रहे हैं। (थका हुआ अफसर भी वही है)

थका अ. : मैं अफ़सर हूँ, लेकिन बहुत थक गया हूँ।
जवानी में मैंने हज़ारों खोपड़े चटकाये हैं अब सिर्फ़ उँगलियाँ चटकाता हूँ - कभी-कभी मज़ाक भी चटका लेता हूँ। अंग्रेज़ी जानते हो ?.... 'क्रैक ए जोक' क्रैक ए पिन।'

(लड़के हँसते हैं)

थका अ. : अच्छा बच्चों, अब एक पहेली बूझो **(ताली बजाकर पटु लहजे में)**.....कालेज के बच्चों, बूझो - क्या तुम ऐसी चिड़िया का नाम बता सकते हो, जो उमड़ती निडर घटाओं के बीच नाचती है, जिसके पर में आठ रंग होते हैं... पर....जो कुत्ते की तरह भौंकती है।

ए.ल. : (रुआँसा) नहीं।

थका अ. : **(खुशी से तालियाँ पीटकर नाचने लगता है)** तुम नहीं बता सकते, तुम अभी बच्चे हो। मैं जानता था, तुम नहीं बता सकोगे।....अरे, मोर....मोर,....मोर तुम नहीं जानते?....मोर....

ए.ल. : **(कड़क कर)** लेकिन मोर भौंकते कहाँ हैं?

(परेशान रमणी की हँसी उभरती है)

थका अ. : **(गंभीर)** यही तो भेद है, और नहीं तो तुम बूझ न लेते। और इसमें मज़ाक ही क्या था?

परे मरणी : **(जैसे भौंककर)** मुझे नहीं मालूम, मैंने तुमसे शादी क्यों की।

अनाउंसर झुनझुना बजाती है। अब वह गंभीर हो जाती है। रमणी हँस रही है - भयानक हँसी, अनाउंसर झुनझुना जोर-जोर से बजाती है। रमणी की हँसी धीरे-धीरे मधुर हो जाती है। तब अनाउंसर आडीटोरियम में आकर बैठ जाती है। स्त्री का अब बोलना शायराने लहजे में - डूबा-डूबा सा है।

परे. रमणी : मेरी तरफ देखो। तुमने कभी मेरे बारे में यह नहीं सोचा कि मैं बादलों से निकलकर आई हूँ या बादलों में रह सकती हूँ। तुम निर्मला ही के बारे में यह बातें सोच सकते हो। मेरे लिए तुम....

मस. प. : मैं सोचता कहाँ हूँ। सुनता हूँ.....और खुद देखता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सिर्फ देखता हूँ।.... बहुत-सी बातें देख लेता हूँ। और बाद में मेरी कोशिश यह रहती है कि जो मैंने देखा है, कोई भी, खासकर..... तुम न देखो। और इसलिए जो मैं देख लेता हूँ, उसे फ़ौरन फोड़ना चाहता हूँ।....मैं.....मैं तुमसे प्रेम जो करता हूँ।

परे. रमणी : क्यों? अगर मैं देख लूँगी, तो क्या होगा?

मस.प. : **(बड़ी सहूलियत से)** नहीं, मैं चाहता हूँ कि तुम सिर्फ सुनो.....तुम सुन लोगी तो मेरा अंत हो जाएगा बिलकुल इस तरह !

परे. रमणी : **(बिना डरे)** क्यों, तुम हमेशा इस तरह बात क्यों करते हो ? तुम इतने....

मस. प. : क्योंकि मैं इतना डरा हुआ हूँ। तुमने ठीक कहा.... देखो, मैंने सुन लिया न।

पा. आया : **(दूर से)** बाबा, जान बाबा....! मशालची बाबा ! तुम खेलने बड़ी दूर चले जाते हो। .... तुम्हारे सूटर में कीड़े लग रहे हैं।

पागल आया की आवाज से पति चौंक पड़ता है।

मस. प. : नहीं.....मुझे ज़रूर नाश करना चाहिए। मैं अपना डर दबा सकता हूँ, लेकिन मैं उसे उखाड़ फेंकना चाहता हूँ।..... क्या मुसीबत है संसार में भय के नाश करने का मतलब है संसार का नाश करना।

परे. रमणी : लेकिन तुम भय पैदा ही क्यों करते हो? मालूम होता है, तुम सिर्फ भय ही भय खाते हो, तुम मुझे कुछ बतलाते क्यों नहीं?

मस. प. : **(हिकारत से हँसते हुए)** तुम जानती हो, भय छोड़ देने से क्या होगा? तब मैं कुछ मिटा नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। मुझे बरबस सृजन...करना होगा **(रुआँसा होकर)**... और फिर तब हमारी आत्मा और शरीर के मंथन से जो निकलेगा, वह हमें मार डालेगा। हमारा अंत कर देगा। तुम बूढ़ी हो जाओगी। जीवन-क्रीड़ा नन्हीं सी रतन-जड़ी रिस्टवाच की तरह जम जाएगी।

(रिक्शे की घंटी)

परे. रमणी : लेकिन फिर भी?

मस. प. : नहीं, मुझे नाश करना ही पड़ेगा। लड़ना पड़ेगा इस बेमतलब, बेमानी और अनन्त शुरुआत के खिलाफ़। एक-एक पत्ती, एक-एक शब्द और एक-एक पत्थर के खिलाफ।

एकबारगी जोर की आवाज़ें, जैसे रिक्शे से गिरने की होती है अनाउंसर जल्दी से जाकर झुनझुना उठा लेती है। उसे बजाती भी है, लेकिन कोई असर नहीं होता। एक खास गोल-माल हो जाता है। परेशान रमणी, मसरूप पति, रिक्शेवाला, सब एक साथ बोलते हैं या बीच में पागल आया की भी आवाज 'मशालची बाबा' दूर से सुनाई देती है। अनाउंसर गाँग देती है तब कहीं गोल-माल खतम होता है।

थका अ. : मैं बेहद थका हुआ हूँ। मेरा रोम-रोम चूर हो रहा है और आपने इसे गिरा दिया और फिर मारा। मैं सीटी बजाता हूँ। देखता हूँ, उसे बजा सकता हूँ या नहीं।

परे. रमणी : यह देखता नहीं था, और मैं हमेशा देखती हूँ। यह देखता नहीं था।

मस. प. : मैंन देखा और अपनी जीवन-संगिनी से बताया, मैंने उसे कायल कर दिया कि बिना नाश किए बताया जा ही नहीं सकता।

अनाउंसर हँसती है झुनझुना बजाती है

थका. अ. : तुमने जरूर समझा दिया होगा और इस रिक्शेवाले का तुम नाश करना चाहते थे। तुमने क्या शब्द कहा था?

मस. प. : **(बदला हुआ स्वर)** कौन? हम नहीं ! तुम हमको क्या समझते हो? यह आदमी देखता नहीं था। आगे देखकर नहीं गया। ठोकर लग गई। मैं नाश करता हूँ।

रि. वाला : **(गर्व से)** नहीं, हमको पीछे से ठोकर लगाई गई, मैंने रिक्शे के आईने में साफ देखा। शायद वह ठोकर अब तक दिखाई दे रही हो।

थका. अ. : मैं सीटी बजाऊँगा। मैं अपनी ताकत सीटी बजाने में खत्म कर दूँगा।

परे. रमणी : नहीं, रुको, सीटी मत बजाओ.... हमारी तरफ देखो.... मैं कभी कुछ पैदा करती।

मस. प. : मैं हर वक्त सोते जागते देखता हूँ और रचता हूँ.... और कायम करता हूँ.....

परे. रमणी : बात यह है कि यह हमारे पति बड़े मसरूप रहते हैं। कभी-कभी यह अपने दिमाग को आराम देने के लिए ऊटपटांग बातें करने लगते हैं - बिलकुल पागल आया की तरह। **(बात टालने की कोशिश में)** पागल आया को आपने देखा है? वह कहती है, उसने 200 किताबें लिखी है? वह देखती नहीं है। वह सिर्फ ढूंढ़ती है। बस, यकीन मानें, सिर्फ ढूँढ़ती है न जाने क्या - और कहाँ, **(धीरे से)** लेकिन मुझे डर है - वह तुमको ही ढूँढ़ रही है।

थका अ. : मुझे इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन आपने यह रिक्शा लिया, इस जाड़े-पाले में, ओले में इसे दौड़ाया और फिर धीरे या लापरवाही से चलने पर अपनी ऊँची एड़ी से आपने इसे ठोकर मारी। वह गिर गया....शायद इसका एक पैर ही बेकार हो....यह रचना और नाश करना दोनों है। तुमने एक रिक्शेवाले का नाश किया और तुमने सौ पैदा किए.....

मस. पति : लेकिन मैंने ठोकर नहीं मारी, तुम यह कहोगे शायद?

परे. रमणी : मैंने ठोकर मारी ! यह देखता नहीं था, यह क्यों नहीं देखता ! यह रोज नहाता क्यों नहीं है? ओह यह बहुत गंदा है ! **(गश-सा आ जाता है)**

मस. पति : अब तुमने देखा, देखने और न देखने में क्या फर्क है। **(बहुत धीरे)** आओ, हम इसकी सीटी का नाश कर डालें, जल्दी ! आओ आओ, सौदा कर लें। ओह ! फिर मैं तुम्हें बादलों में रहने की इजाजत दे दूँगा। मैं कभी **(संभालते हुए)**....तुम्हारी रची हुई कोई चीज नहीं करूँगा।

थका अ. : **(रोक कर)** यह क्या घुसपुस कर रहे हो? आप जानती हैं कि एक कानून है, जिसमें उन लोगों को सजा मिलती है, जो जानवरों के साथ खासकर सवारियों में जुतने वाले जानवरों के साथ बेरहमी करते हैं **(सीटी बजाता है)।**

परे. रमणी : **(गुस्से में)** तुम क्या इस आदमी को जानवर बना दोगे? यह रिक्शेवाला कोई बैल है या घोड़ा?

(अनाउंसर झुनझुना बजा देती है)

मस. पति : **(जोशीली स्पीच)** मैं इसके खिलाफ लड़ूँगा। मैं आंदोलन करूँगा और उन्हें तोड़ूँगा। मैं आलमगीर लड़ाइयाँ करूंगा। देखो मैं क्या करता हूँ। मैं बड़ी-बड़ी लाइब्रेरियों में आग लगा दूँगा। मैं शहरों और पर्वतों को स्याही की बूँद की तरह नक्शे से पोंछ दूँगा। यह आदमी है, जानवर नहीं है। यह केवल अंधा-कुआँ है....मेरी बीबी बादलों में रहती है, पागल आया हम सबको बचायेगी।

पा. आया. : **(पागल जोश में)** अहा, मिल गया, बाबा, जान-बाबा.....मशालची बाबा.....मिल गया.... लेकिन तुम घर से बहुत दूर निकल आये हो.....तुम्हारा सूटर.....

पागल आया और मसरूप पति दोनों सुबकने लगते हैं, जैसे वही दोनों मिल गए हों।

म. पति :
प. आया : थका हुआ अफ़सर मर गया, रिक्शेवाले ने उसे मार डाला। अफसर को रिक्शेवाले ने अपने आईनों से मार डाला। अब यह जो सामने खड़ा हुआ है, न थका हुआ है और न अफ़सर।

परे. रमणी : **(जैसे वह एकबारगी भूल गया हो)** मेरे अंदर घनी थकावट बस गई है।

थका अ. : **(जैसे डूब रहा हो)** जिस तरह एक अंधे कुएँ में **(छटपटाता सा)** मरी हुई सूखी बिल्ली, चमकीली वार्निश के टीन..... किताबों के वरक..... **(गिर पड़ता है)**

पा. आया : रिक्शेवाले ने कितना अच्छा नाश किया। मेरी ख्वाहिश है कि हम उसके स्टेचू बनाएँ। उसकी जाली आटोग्राफ बेचने के लिए कम्पनियाँ खड़ी करें.....

लेकिन मशालची बाबा.....तुम घर से कितनी दूर निकल आए हो, ओह तुम्हारा सूटर कीड़ों ने खत्म कर दिया है।

एक स्वर : हमारी सबसे ताजी ईज़ाद, काँच के सूटर। इनको सिर्फ ताँबे के कीड़े खा सकते हैं - **(कुछ रुककर)** ..... हमारी इससे भी ताजी ईज़ाद- ताँबे के कीड़े।.....यह बुलाने से बोलते और हँसने से हँसते.....ताँबे के कीड़े !

रोशनी हो जाती है। अनाउंसर इठलाती हँस रही है। झुनझुना कमरबंद में अटका लेती है।

अना. : नहीं, अभी खत्म कहाँ हुआ? अभी तो दो मिनट का एक नाच गाना और है।....और न जाने इस गाने से अंत करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है? मेरी समझ से तो पूरे नाटक में ही कुछ हल नहीं होता। पूछे जाने पर नाटक लिखने वाला शायद कुछ ऐसा कहेगा कि 'जिंदगी और नाटक का प्राबलम....एक ही है, यानी लम्हे को मुक्म्मिल कर देना। विरोध और विद्रोह को एक स्वर करना और उनमें एक केंद्रीय महत्व यानी सेंट्रल सिगनीफिकेंस हासिल करके उसका दर्शकों पर एक फीका असर उपजाना, कि वह उनकी बुद्धि, विचार और नज़र को उकसाए। **(हँसी)**

लेकिन यह सब बेबात की बातें हैं। सभी न्यूरोटिक इसी तरह की बातें करते हैं। मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरोटिक है। हमें जो रुचता नहीं, जो हमारे विचारों के साँचे में अँटता नहीं, उसे हम न्यूरासिस न कहें तो क्या कहें....इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खाहमखाह भरम में डाल रहा है।

झुनझुना निकालकर बजाती है और शर्मायी हँसी हँसती है। स्क्रीन के पीछे से रिक्शेवाला, जो पैर में घुँघरू बाँधे है, दर्शकों को जोकरों की तरह हँसाने की कोशिश कर रहा है। औरों के खड़े हो जाने पर वह आगे आकर अपना गाना और नाच शुरू कर देता है। गाना

किसी भी भद्दी लय में गाया जा सकता है और नाच उछल-कूद से अधिक कुछ नहीं है।

रि.वाले का गीत : -

बीबी बोले नाहीं,
बोले नाहीं,
कुंडा खोले नाहीं,
हमसे बोले नाहीं !

रोती लय में : उमड़ रही बरसात रे !

लहरे में : बीबी बोले नाहीं, बोले नाहीं,
बोले नाहीं, बोले नाहीं,
बीबी बोले नाहीं....!

अनाउंसर लाल सिंदूर होकर हँसी से लोटपोट हो जाती है और बड़ी भली मालूम हो रही है।

13. नुक्कड़ नाटक : 'औरत'

'औरत' नुक्कड़ नाटक की रचना दिल्ली स्थित जन नाट्य मंच ने सामूहिक रूप से की थी। इस नाट्य संस्था के संस्थापकों और कार्यकर्त्ताओं में सफदर हाशमी का नाम प्रमुख है। सफदर हाशमी जन नाट्य मंच (जनम) के ही एक अन्य नाटक 'हल्ला बोल' का प्रदर्शन करते हुए कुछ गुंडों द्वारा मारे गए थे।

नुक्कड़ नाटक नाटक की एक ऐसी विधा है जो कई अर्थों में नई है और जिसमें रंगमंचीय नाटक और लोक नाट्य रूपों दोनों की विशेषताओं का इस्तेमाल किया जाता है। नुक्कड़ नाटक ऐसे नाटक को कहते हैं जिसमें नाटक मंडली जनता के बीच जाकर बिना किसी बाहरी तामझाम के अपना नाटक पेश करती है। अंग्रेजी में नुक्कड़ नाटक को 'स्ट्रीट प्ले' इसीलिए कहा जाता है क्योंकि उसे किसी भी गली, रास्ते और चौराहे पर पेश किया जा सकता है। जैसे मदारी सड़क पर मजमा लगाकर तमाशा पेश करता है, उसी तरह से नुक्कड़ नाटक भी पेश किया जाता है।

वैसे तो यह नाट्य विधा पुरानी है लेकिन हिंदी में इस विधा का उद्‌भव 1967-77 के दौरान हुआ। यह वह समय था जब देश में राजनीतिक-सामाजिक स्थितियाँ काफी संघर्षपूर्ण थीं। इससे जनसंघर्षों का दौर शुरू हुआ। इसी की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नुक्कड़ नाटकों के रूप में भी हुई।

स्वतंत्रता आंदोलन के आखरी चरण में जन नाट्य संघ (इप्टा) ने जिस जन कला का विकास किया था, उससे नाटक के क्षेत्र में यानी लेखन और रंगकर्म दोनों क्षेत्रों में युगांतरकारी परिवर्तन दिखाई देने लगा था। इप्टा की नाट्य मंडलियाँ संपूर्ण भारत वर्ष में अपने नाटकों का प्रदर्शन कर यह उदाहरण पेश कर चुकी थीं कि जनता के बीच संस्कृति, साहित्य और कला को कैसे पहुँचाया जाता है। जन साधारण के ऊपर हो रहे अन्याय और उत्पीड़न से कला का रूप कैसे बदलता है और किस प्रकार लाखों-करोड़ों अनपढ़, अशिक्षित किसानों, मजदूरों और महिलाओं की चेतना में गुणात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है।

जनता की राजनीतिक और सांस्कृतिक ज़रूरतों को एकसूत्र में पिरोकर नये नाट्य रूप और रंगकर्म की अगवानी जनकला के सर्वथा नये प्रयोग और नाटक के क्षेत्र में गतिरोध

तोड़ने के लिए नई पहलकदमी की शुरुआत जन नाट्य मंच नामक संस्था के गठन से हुई। 1973 में सफदर हाशमी ने दिल्ली में जनम की शुरूआत की। शुरू में जनम ने रंगमंच आधारित बड़े नाटक ही पेश किए जिनमें 'भारत भाग्य विधाता' और 'बकरी' के सफल मंचन शामिल थे। जनम ने पहला नुक्कड़ नाटक 'मशीन' तैयार किया। इसका लेखन 1978 में हुआ और इसके लेखन में जनम का पूरा समूह शामिल था। इस नाटक का निर्देशन सफदर हाशमी ने किया। जनम के बाद के सभी नुक्कड़ नाटकों के लेखन और निर्देशन में सफदर हाशमी की सक्रिय और नेतृत्वकारी भूमिका थी।

पिछले लगभग तीन दशकों ने नुक्कड़ आंदोलन का राष्ट्रीय स्तर पर विस्तार हुआ है। इसे जन-जन तक पहुँचाने के काम में जी-जान से जुटी अनेक नाट्य मंडलियाँ हैं। 1980 के बाद इप्टा को जब दोबारा सक्रिय किया गया तो उससे प्रेरित होकर दर्जनों नाट्य मंडलियाँ बनीं। भागलपुर की 'दिशा', दिल्ली की 'निशांत', पंजाब में सक्रिय 'जन नाट्य इकाई', बिहार में प्रांतीय स्तर पर सक्रिय 'जन सांस्कृतिक मोर्चा' आदि नाट्य मंडलियों ने नुक्कड़ नाटक के लेखन तथा रंगकर्म में वैविध्य तथा कलात्मक परिपक्वता की अनेक मिसालें कायम की हैं। इस दौरान लिखे हुए कुछ प्रमुख और लोकप्रिय नुक्कड़ नाटक इस प्रकार हैं :

> मशीन, औरत, हल्ला बोल, गाँव से शहर तक, हत्यारा, पुलिस चरित्रम्, राजा का बाजा (जनम, दिल्ली); जंगीराम की हवेली (गुरुशरण सिंह); रोटी नाम सत है (हरीश भदानी); गिरगिट (रमेश उपाध्याय); जनता पागल हो गई है (शिवराम); मुझे बोलने दो (राजेश कुमार); नयी बिरादरी (स्वयं प्रकाश); डेढ़ बीघा ज़मीन (राजेंद्र मंडल) आदि।

नुक्कड़ नाटक के साथ जुड़ा अहम सवाल यही है कि खुले स्थान पर बिना किसी साज-समाज के प्रदर्शित होने वाले इन गैरमंचीय रंगकर्म को नाटक माना जाए या नहीं? चरित्रों, घटनाओं, आकृतियों, भंगिमाओं, आंगिक अभिव्यक्तियों आदि की अनुकृति, उनके पुनर्सृजन, उनकी भ्रांति उत्पन्न करने वाली आवृत्ति से नाट्यकला का गहरा ही नहीं बल्कि अविच्छिन्न संबंध है। नुक्कड़ नाटक का रंगकर्म नाट्य कला के इस प्रधान उपादान के बिना संभव ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि दर्शक और अभिनेता के बीच का रिश्ता नाटक की तरह ही, यहाँ भी है। कहना चाहिए कि प्रेक्षागृहों में प्रस्तुत होने वाले मंच नाटक के कलाकारों से दर्शक समुदाय की दूरी बनी रहती है। लेकिन नुक्कड़ नाटक में ऐसी कोई दूरी होती ही नहीं। इस संदर्भ में प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक जयदेव तनेजा का कथन उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उनका कहना है, "सदियों से सुरक्षित, विशिष्ट और निश्चित स्थान (मंच) को छोड़कर बीच मैदान में आते ही नाटक का व्याकरण, मुहावरा, तेवर, अंदाज और सौंदर्यबोध एकदम से बदलने लगता है। यह नाटक सज्जा और प्रकाश

के सभी साधनों का परित्याग करके - अयथार्थ को यथार्थ बनाकर दिखाने के परंपरावादी भ्रमजाल को तोड़कर कलाकार नामक एक अति संवेदनशील सामाजिक इकाई तथा दर्शक नामक दूसरी मानवीय एवं सामाजिक इकाई को एक-दूसरे के आसपास लाकर खड़ा कर देता है, जिससे वे अपने आपसे और अपने परिवेश से जीवंत साक्षात्कार कर सकें।

नुक्कड़ नाटक अभिनेयता, रंग-विधान, वेश-भूषा, प्रस्तुति-अवधि आदि दृष्टियों से रंगमंचीय नाटकों से भिन्न होता है। दर्शकों के बीच जाकर नुक्कड़-चौराहों पर प्रस्तुत किया जाने वाला नाटक बहुत लंबा नहीं हो सकता। इसलिए आमतौर पर नुक्कड़ नाटक की अवधि 30-40 मिनट ही होती है। न इसमें भड़कीली वेशभूषा हो सकती है, न मंच सज्जा का तामझाम। एक अर्थ में नुक्कड़ नाटक संकेतों से काम लेता है। वह वेशभूषा में मामूली परिवर्तन से, पात्र की बाह्य और आंतरिक स्थितियाँ बदल देता है। इसी तरह बहुत अधिक पात्रों की प्रस्तुति संभव न होने के कारण नुक्कड़ नाटक थोड़े कलाकारों से ही विभिन्न पात्रों का काम ले लेता है। नुक्कड़ नाटक के संवादों में कई तरह के प्रयोगों की गुंजाइश रहती है। गीत, संगीत, कविता के प्रयोग पर भी बल रहता है। वस्तुतः नुक्कड़ नाटक गंभीर और जनोन्मुखी ध्येय को लेकर जनता के बीच जनता द्वारा खेले जाने वाली विधा है।

'औरत' नाटक की रचना

'औरत' जन नाट्य मंच द्वारा 1983 में प्रकाशित किया गया। इस नुक्कड़ नाटक की रचना और प्रस्तुति प्रकाशन से पहले हुई थी। इस नाटक से पूर्व 'मशीन', 'गाँव से शहर तक', तथा 'हत्यारा' का मंचन जन नाट्य मंच द्वारा हो चुका था। यह सही है कि विशाल जन समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए 'औरत' नाटक की सृष्टि हुई है लेकिन यह नाटक औरत की गहरी अंतर्व्यथा को प्रस्तुत करने की कलात्मक कोशिश भी है। औरत की जो तस्वीर उपभोक्तावादी समाज में पेश की जाती है उससे अलग हटकर नारी का चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

सफदर हाशमी का स्पष्ट विचार था कि नाटक मंडली के सदस्य परस्पर बहस करके, साथ ही जनवादी संगठनों और आंदोलनों के नेतृत्व से विचार-विमर्श करके एक सुदृढ़ और गहरी समझ बनने के बाद अपनी सामूहिक रचना शक्ति से ही अच्छे-अच्छे नाटक तैयार कर सकते हैं। 'औरत' नाटक की रचना इसी प्रक्रिया में हुई। सफदर ने अपने साथियों के साथ मिलकर इसे रचा था।

श्रमशील औरत के जीवन की वास्तविकताओं को इस नाटक में कई कोणों से देखने की कोशिश की गई है। मेहनत करती औरत, शोषण की चक्की में पिसती औरत और पुरुष

मानसिकता की शिकार औरत का रूप वही नहीं है जो पूँजीवादी-उपभोक्तावादी समाज में पेश किया जाता है। वर्गों में बँटे समाज में हर वर्ग की औरत शोषण और उत्पीड़न का शिकार होती है। लेकिन गरीब स्त्री को स्त्री होने के साथ-साथ गरीब होने की पीड़ा भी झेलनी पड़ती है। नाटक के अंत में शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ आवाज को बुलन्द किया गया है। जब तक संगठित होकर औरत अपने अधिकार के लिए संघर्ष नहीं करेगी तब तक वह इसी तरह प्रताड़ित होती रहेगी। समाज के सृजन में नारी की सबसे बड़ी भूमिका होती है पंरतु उसके महत्व को नहीं समझा जाता है। औरत की स्वतंत्रता नये समाज का स्वप्न है परंतु औरत की स्वतंत्रता का यह मतलब नहीं है कि उसे उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जाए। औरत और पुरूष के भेद को मिटाकर औरत को समान दर्जा देने का संदेश नाटक का मर्म है। बिना किसी ताम-झाम के 'औरत' नाटक को सैकड़ों बार गली चौराहे पर प्रस्तुत किया गया है। यह इस नाटक के रंगमंचीय महत्व को प्रतिपादित करता है।

यह नाटक स्त्री के विभिन्न रूपों की संघर्षशील गाथा प्रस्तुत करता है। मेहनतकश परिवार की नारी चाहे वह बच्ची हो, लड़की हो, पत्नी हो, माँ हो, उसे कदम-कदम पर शोषण और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। उसे भाई की तुलना में अधिक काम करना पड़ता है। उसकी पढ़ने-लिखने और आगे बढ़ने की आकांक्षाओं का गला घोंट दिया जाता है। कारखानों में उसे कम वेतन और छंटनी का शिकार होना पड़ता है। ससुराल में दहेज के लिए प्रताड़ित किया जाता है। सड़कों पर स्त्री होने के कारण उसे अपमानित होना पड़ता है। उसका सौंदर्य और यौवन उपभोग के लिए है। एक इंसान के रूप में उसकी कीमत कुछ भी नहीं है। स्त्री जीवन की इन्हीं विडंबनाओं को नुक्कड़ नाटक की विषय वस्तु का आधार बनाया गया है। खास बात यह है कि नाटक स्त्री की जिजीविषा, संघर्षशीलता और भविष्य के प्रति गहरी आशा का संदेश देते हुए समाप्त होता है।

इस नाटक की भाषा बोलचाल की है। यही कारण है कि उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसे समझने में दिक्कत नहीं होती। भाषा में नाटकीय लय को इस प्रकार संयोजित किया गया है, कि अभिनेता अपने अभिनय में उन्हें अनेक प्रकार की अर्थ छाया दे सकता है। भाव के अनुकूल भाषा का मिज़ाज़ बदलता है। भाषा और भाव भंगिमा का गहरा रिश्ता 'औरत' नाटक में मौजूद है। भाव परिवर्तन बडे तेजी से होते हैं जो नाटकीय गति की तीव्रता को सृजित करते हैं। नाटक में कथा की तीव्रता को कलात्मक ढंग से संयोजित किया गया है। नुक्कड़ नाटकों की तरह इसमें भी अभिनय स्थल वृत्ताकार होने चाहिए, जिसे पाँच-सात अभिनेताओं के साथ बिना किसी ताम-झाम के आसानी से प्रस्तुत किया जा सके। शिल्पगत निपुणता की अपेक्षा नाटकीय मर्म की पहचान नुक्कड़ नाटक का प्रमुख उद्देश्य है। वह मर्म जनता तक संप्रेषित हो और उसे उद्वेलित करे।

शब्दावली

बैन : बोली
खूने जिगर : लहुलुहान हृदय
बेहया : लज्जाहीन
नासूर : घाव
पगार : वेतन
फ्रीज : स्थिर हो जाना
खाविन्द : पति
चाइल्ड साइकोलोजी : बच्चों की मानसिकता
इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट : आयात-निर्यात
दिहाड़ी : मजदूरी

व्याख्य के लिए प्रमुख अंश

1. जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

2. मैं खुद भी एक मजदूर हूँ
मैं खुद भी एक किसान हूँ
मेरा पूरा जिस्म दर्द की तस्वीर है
मेरी रग-रग में नफरत की आग भरी है
और तुम कितनी बेशर्मी से कहते हो
कि मेरी भूख एक भ्रम है
और मेरा नंगापन एक ख्वाब
एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में
एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके।

3. बाप के भाई के और खाविन्द के

ताने तिश्नों को सुनना तमाम उमर।
बच्चे जनना सदा, भूखे रहना सदा, करना मेहनत हमेशा कमर तोड़ कर
और बहुत से जुलमों सितम औरत के हिस्से आते हैं
कमजोरी का उठा फायदा गुण्डे उसे सताते हैं।
दरोगा और नेता-वेता दूर से यह सब तकते हैं
क्योंकि रात के परदे में वह खुद भी यह सब करते हैं।
औरत की हालत का यह तो जाना माना किस्सा है
और झलकियाँ आगे देखो जो जीवन का हिस्सा है।

व्याख्या का उदाहरण

जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

संदर्भ-संकेत

जन नाट्य मंच द्वारा लिखे गए नुक्कड़ नाटक 'औरत' का यह आरंभिक अंश है। यह एक ईरानी कविता की पंक्तियाँ हैं जिसकी लेखिका मर्जिया उस्कुई अहमदी है जिसका प्रयोग इस नाटक में किया गया है। इस नाटक के लेखन और प्रस्तुति में प्रख्यात रंगकर्मी सफदर हाशमी की सक्रिय भूमिका थी। इस नाटक का उद्देश्य समाज में स्त्री की वास्तविक दशा का करुण चित्र प्रस्तुत कर जागृति पैदा करना है ताकि उनका शोषण और उत्पीड़न न हो और वे स्वयं इसके विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने के लिए आगे आएँ।

व्याख्या-संकेत

नुक्कड़ नाटक की विधा की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए इस अंश की व्याख्या करें। औरत की समस्या को नाटककार ने मात्र राजनीतिक दृष्टि से नहीं देखा है। बल्कि उसे सामाजिक संदर्भ के व्यापक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक अनुभवों की जटिल संरचना के बीच रख कर देखा है।

इन पंक्तियों में एक मज़दूर स्त्री के जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। कारखाने में काम करने वाली स्त्री जिसमें इतना बल है कि जो फैक्ट्री की भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है लेकिन वे ही मशीनें उसकी ताकत को 'हर दिन नोचा करती है'। स्त्री जीवन की यह विडंबना है। यह बिंब हमारे समाज के अंतर्विरोधों को उजागर करता है। स्त्री की ताकत से कारखानों में मशीनें चलती हैं (और समाज के रथ का पहिया भी) लेकिन स्वयं उस स्त्री को इस श्रम का कोई लाभ नहीं मिलता। सरमायेदार उसके श्रम का मूल्य हड़प कर अपनी तिजोरिया भरते हैं। मेहनत करते हुए वह स्त्री अपना खून-पसीना बहाती है। वही खून-पसीना मुनाफा बनाकर दूसरों के श्रम पर जीने वालों की प्यास बुझाता है। यही हमारे समाज की त्रासदी है जिन्हें इन पंक्तियों में अत्यंत मार्मिकता के साथ कहा गया है।

इन पंक्तियों में शोषण पर आधारित समाज की वास्तविकता को भी उजागर किया गया है। सभी पंक्तियाँ एक गतिशील बिंब पेश करती हैं जिसमें स्त्री की ताकत और उसका शोषण दोनों एक साथ अभिव्यक्त होते हैं। पूंजीवादी समाज में मेहनतकश लोगों का कैसे शोषण होता है, इस सत्य को आधार बनाकर इन पंक्तियों में मेहनतकश स्त्री की मेहनत, शोषण और संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है आप उपर्युक्त बातों के संदर्भ में इन पंक्तियों की व्याख्या कर सकते हैं।

विशेष-संकेत

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए आप इसकी भाषा, इसकी काव्यगत विशेषताओं पर विचार करें। क्या इसे समझने में किसी तरह की कठिनाई आती है? क्या इन पंक्तियों का काव्यत्व प्रभावित नहीं करता?

सहायक पुस्तकें

1. सफदर : सहमत प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा : जयदेव तनेजा।
3. बीसवीं सदी में जनकला : सिद्धांत और सृजन, जन नाट्य मंच प्रकाशन, नई दिल्ली।

औरत

पात्र-विभाजन

औरत
सूत्रधार/अभिनेता-1/मज़दूर
अभिनेता-2/पंडित/गुंडा
अभिनेता-3/गुंडा/ससुर/मालिक
अभिनेता-4/बाप/मजदूर
अभिनेता-5/पुलिस
अभिनेता-6/पति/गुंडा/मजदूर

(गोलाकार अभिनय स्थल। छह अभिनेता एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखे वृत्ताकार रचना में घूमते हुए एक छोर से प्रवेश करते हैं। उनके बीच में छुपी एक अभिनेत्री सहित वे केंद्र में आकर रुकते हैं। एक साथ पलट कर दर्शकों की ओर मुंह कर बैठते हैं। अभिनेत्री बीच में खड़ी दिखायी देती है।)

अभिनेत्री : मैं एक माँ
एक बहन
एक अच्छी पत्नी
एक औरत हूँ

अभिनेता-1 : एक औरत जो न जाने कब से
नंगे पांव रेगिस्तानों की धधकती बालू में
भागती.....रही है।

अभिनेत्री : मैं सुदूर उत्तर के गाँवों से आयी हूँ

अभिनेता-2 : एक औरत जो न जाने कब से
धान के खेतों और चाय के बागान में
अपनी ताकत से ज्यादा मेहनत करती आयी है।

अभिनेत्री : मैं पूरब के अंधेरे खंडहरों से आयी हूँ
जहाँ मैंने न जाने कब से
नंगे पाँव

अपनी मरियल गाय के साथ
खलिहानों में
दर्द का बोझ उठाया है।

अभिनेता-3 : उन बंजारों में से
जो तमाम दुनिया में भटकते फिरते हैं
एक औरत जो पहाड़ों की गोद में बच्चे जनती है
जिसकी बकरी मैदानों में कहीं मर जाती है
और बैन करती रह जाती है।

अभिनेत्री : मैं वह मजदूर औरत हूँ

अभिनेता-4 : जो अपने हाथों से फैक्ट्री में
भीमकाय मशीनों के चक्के घुमाती है
वह मशीनें जो उसकी ताकत को
ऐन उसकी आँखों के सामने
हर दिन नोंचा करती है
एक औरत जिसके खूने जिगर से
खूँखार कंकालों की प्यास बुझती है,
एक औरत जिस का खून बहने से
सरमायेदार का मुनाफा बढ़ता है।

अभिनेत्री : एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहया शब्दावली में

अभिनेता-5 : एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके
तुम्हारी शब्दावली केवल उसी औरत की बात करती है
जिसके हाथ साफ हैं
जिसका शरीर नर्म है
जिसकी त्वचा मुलायम है
और जिसके बाल खुशबूदार हैं।

अभिनेत्री : मैं तो वह औरत हूँ

अभिनेता-6 : जिसके हाथों को दर्द की पैनी छुरियों ने
घायल कर दिया है
एक औरत जिसका बदन तुम्हारे अंतहीन

शर्मनाक और कमर तोड़ काम से टूट चुका है।
एक औरत जिसकी खाल में
रेगिस्तानों की झलक दिखाई देती है
जिसके बालों में फैक्ट्री के धुएँ की बदबू आती है।

अभिनेत्री : मैं एक आजाद औरत हूँ (वृत्त के बाहर निकलती है, मुट्ठी तानकर आगे किए हुए. बाकी अभिनेता भी उसके पीछे मुट्ठी ताने एक घुटना टेके एक पैर आगे बढ़ाकर बैठते हैं)

अभिनेता-1 : जो अपने कामरेडों, भाइयों के साथ
काँधे से काँधा मिला कर
मैदान पार करती है

अभिनेता-2 : एक औरत जिसने मजदूर के
मजबूत हाथों की रचना की है
और किसान की बलवान भुजाओं की।
(बाकी अभिनेता वैसे ही बैठे रहते हैं, अभिनेत्री उनके बीच इधर-उधर घूम कर संवाद बोलती है।)

अभिनेत्री : मैं खुद भी एक मजदूर हूँ
मैं खुद भी एक किसान हूँ
मेरा पूरा जिस्म दर्द की तस्वीर है
मेरी रग-रग में नफरत की आग भरी है
और तुम कितनी बेशर्मी से कहते हो
कि मेरी भूख एक भ्रम है
और मेरा नंगापन एक ख्वाब
एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहूदा शब्दावली में
एक शब्द भी ऐसा नहीं
जो उसके महत्व को बयान कर सके।
(बाकी अभिनेता पलट कर वृत्ताकार आकृति में एक दूसरे की ओर मुंह कर के बैठते हैं।)

अभिनेता-5 : एक औरत जिसके सीने में
गुस्से के फफकते नासूरों से भरा

एक दिल छिपा है

अभिनेता-4 : एक औरत जिसकी आँखों में
आजादी की आग के लाल साये
लहरा रहे हैं।

अभिनेत्री : एक औरत जिसके हाथ
काम करते करते सीख गए हैं
लाल झंडा कैसे उठाया जाता है
(लाल झण्डा उठाती है।)

सूत्रधार : आइये, आपको एक कहानी सुनाएँ, छोटी सी कहानी,
छोटी सी बिटिया की छोटी सी कहानी।

औरत : **(ग्यारह का पहाड़ा दोहराती है)**
[एक अभिनेता उठता है, बाप के अभिनय में]

बाप : मुन्नी....मुन्नी मुन्नी कहाँ मर गयी तू। चिलम भरने को दी थी और अब तक नहीं लौटी।

औरत : **(पास आते हुए)** ग्यारह दूनी बाइस

बाप : क्योंरी यह घर है या स्कूल....घंटा भर हो गया काम से आये। कब तक मैं यूं ही बैठा रहूँगा? मुन्नी ...

औरत : बाबा मैं याद कर रही थी। मास्टरजी कहते हैं घर पे पढ़ा करो। समझ न आये तो अपने बाबा से पूछो।

बाप : बाबा से पूछे! बाबा से पूछे तो घर बैठो और काम करो। क्या करेगी स्कूल जा के। तुझे कौन दफ्तर जाना है?

औरत : मास्टरजी कह रहे थे कल किताब जरूर लाना नहीं तो नाम काट देंगे। और कह रहे थे स्कूल की वर्दी धुली हुई होनी चाहिए, इंस्पेक्टर साहब आने वाले हैं।

बाप : हरामजादों को बच्ची का मन बहलाने के सिवा कोई काम है? यहाँ दो जून खाने के दाने नहीं हैं घर में, बरसात आने वाली है और छप्पर अब तक ठीक नहीं करा पाये, इन्हें किताबें चाहिए? धुली हुई वर्दी चाहिये? कल से स्कूल विस्कूल बंद।

औरत : नहीं बाबा मैं स्कूल जाऊंगी.....

बाप : चुप रह, तेरे भाई को स्कूल भेज रहा हूँ उसी में कमर टूटी जा रही है.....

औरत : (रोती हुई) बाबा मैं भी स्कूल जाऊंगी।

बाप : बिटिया घर का काम-काज किया कर..... कोई बच्चीनीहं रह गई। दस साल की होने को आयी, ढींग की ढींग। स्कूल जाएगी....कुछ काम ढूंढ दूंगा तेरे लिए। यह आवारों की तरह उछल कूद बंद कर दे। बड़ा बुरा ज़माना आ रहा है।

औरत : बाबा एक रस्सा ला दो, शाम को खेलने के लिए.....

बाप : इसीलिए कहता हूँ, बच्चों को स्कूल भेजना ही नहीं चाहिए। बच्चों को स्कूल भेजो तो कॉपी-किताब का खर्चा, वर्दी का खर्चा-अब ये खेल-कूद और एक बला हो तो.....

औरत : रस्सा....ला दो बाबा रस्सा.....

बाप : गले में लटका के मर क्यों नहीं जाती कम्बख्त, तेरी मां मर रही है, तू भी मर। पीछा छूटेगा। लड़का है, किसी तरह पाल लूंगा। कहाँ से लाऊं तेरे लिए। तनख्वाह के नाम पे पिछले पाँच साल से एक पैसा नहीं बढ़ा। बढ़ाने की बात भी करो तो सालों ने तालाबंदी की धमकी दे दी और एक तरफ ये हैं....किताब चाहिए, खिलौने चाहिए, चल उठ बासन मांझ, हरामजादी कहीं की! स्कूल जाएगी।

औरत : जाऊंगी, जाऊंगी, जाऊंगी! सुबह-सुबह सारे बच्चे सुंदर कपड़े पहन कर बस में बैठ कर जाते हैं, मैं भी जाऊंगी।

बाप : उन बच्चों की जितनी फीस है उतनी तेरे बाप की पगार है, चल उठ, और लाला से जाकर आटा ले आ।

औरत : बाबा वह आटा नहीं देता।

बाप : अरे आटा क्यों नहीं देता....उधार देता है कोई भीख नहीं देता।

औरत : पर बाबा उसका बेटा कहता है...

बाप : क्या कहता है?

औरत : कहता है... कहता है... अगर उधार में आटा चाहिए तो दुकान बंद होने के बाद अकेले मे आना।

बाप : सूअर का बच्चा! अगर उधार न चुकाना होता... **(बाबा और औरत दोनों अपनी मुद्रा में 'फ्रीज' हो जाते हैं। सूत्रधार उठ कर दर्शकों से सम्बोधित होता है।)**

सूत्रधार : एक दिन बाबा की फैक्ट्री में तालाबंदी हो गयी। लाल झंडा हाथ में लेकर चिल्लाते हैं 'हड़ताल हमारा नारा है'। 'संघर्ष हमारा नारा है।'

औरत : मेरे साथ अब इतना बुरा सलूक नहीं होता। लेकिन बोझ मैं अब भी हूँ। इसीलिए मेरा लगन तय हो गया है। आज फेरे हैं। लड़का भैया की मील में 2000 रु0 महीना तनखा पाता है।
(गाते नाचते बारात का दृश्य। तीन बराती, रामनाम का दौशाला डाले पंडित, दूल्हा, और ससुर। पंडित, औरत का पल्लू दूल्हा की पैंट से बांधता है, गायत्री मंत्र उच्चारण के दौरान दोनों दायरे का चक्कर लगाता है। फेरा पूरा होने पर पंडित के सामने रुकते हैं।)

पंडित : सास-ससुर की आज्ञा मानोगी। पति को साक्षात भगवान जानोगी, पहले उन्हें खिलाओगी, फिर खुद खाओगी। पति ससुर अन्याय भी करें तो उसे न्याय मानोगी, कभी पलट कर उत्तर नहीं दोगी, आँखें सदा नीची रखोगी, घर का काम काज संभालोगी।

[बाकी पात्र दोहराते हैं]

पति : फौरन कोई काम तलाश करोगी, सबेरे ही सब्जी मंडी से साग तरकारी लाओगी। फिर कुएँ से पानी। बाबा का हुक्का भरोगी। झाड़ू-पोंछा, चौका चक्की सब तुम्हीं संभालोगी।

ससुर : इस घर में आराम करने नहीं बोझ बंटाने आई हो। अपनी सास को आराम दोगी। सारा काम संभालोगी।

[बाकी पात्र दोहराते हैं]

पंडित : तथास्तु, **(पंडित, पति और ससुर अपनी-अपनी मुद्राओं में थम जाते हैं। बाकी पात्र बैठ जाते हैं।)**

सूत्रधार : इस तरह गृहस्थी की चक्की में पिसते-पिसते आठ बरस हो गए।
(ससुर, पति तथा पंडित वापस दायरे में बैठते हैं।)

औरत : (घर का काम करते करते) छोटे-छोटे बच्चे हैं। कमजोर गंदे और चीं - - पीं करते हुए। 25 साल की उमर में 40 साल की बुढ़िया लगती हूँ। मुंह अंधेरे जागती हूँ, घर का सारा काम काज करती हूँ। चक्की पर जाती हूँ गेहूँ साफ करने। दोपहर का चौका बर्तन कर फिर काम पर जाती हूँ, शाम ढ़ले लौटती हूँ। फिर सारा काम, ससुरजी के मरने के बाद से ही मेरा आदमी शराबी हो गया। **(पति बैठे-बैठे बोलता है - 'हरामजादी')** रात दिन मारपीट और गाली गलौज करता है। थाने में नाम दर्ज है उसका।

(पति शराब की बोतल लेकर उठता है।)

पति : अरी ओ हरामजादी, यह मुन्ना क्यों रोये जा रहा है?

औरत : जाग गया है तुम्हारे दहाड़ने से।

पति : तो चुप करा इसे, नहीं होता तो उठा कर बाहर फेंक दे सुअर के बच्चे को।

(अपनी मुद्रा में फ्रीज़ हो जाता है।)

सूत्रधार : क्या होगा इन 'सुअर के बच्चों' का। दिन भर आवारा घूमते हैं। पढ़ाई लिखाई का कोई प्रबंध नहीं। बड़े होकर अपने बाप पर ही जाना है इन्हें।

औरत : बड़े होंगे तो काम की तलाश में मारे - मारे भटकेंगे, न जाने कहाँ-कहाँ जायेंगे। मुझ से दूर,। मैं हमेशा की अकेली, हमेशा की खामोश किस के सहारे जिऊँगी। चक्की से जवाब मिल गया तो किसके दरवाज़े पर जाऊँगी? हे भगवान, तू ही कुछ कर।

पति : भगवान क्या कर लेगा? उसे क्या पड़ी है तेरी तरफ देखने की? सेठ जी का बंगला पसंद है उसे। सेठानी गोरी चिट्टी है। भोग भी वह अंग्रेजी बोतल का लगाता होगा।

औरत : यह उल्टी सीधी न बको। इसी सबके कारण तो यह हाल है। मंदिर जाते, भले मानस की तरह रहते तो घर की सकल ही कुछ और होती आज।

पति : हरामजादी कहीं की। जबान लड़ाती है (थप्पड़ मारता है। औरत गिर पड़ती है।) आदमी को कहीं आराम ही नहीं। फैक्ट्री से थका मांदा आता है। फैक्ट्री में सुपरवाईजर की भौं - भौं, घर में तेरी। दान दहेज

के नाम पर तो बाप को साँप सूंघ गया था, और बेटी है कि होश ही ठिकाने नहीं है। चल उठ। घर का काम काज कर बड़ी आयी है, हरामजादी। (दोनों दायरे में बैठ जाते हैं। सूत्रधार उठता है।)

सूत्रधार : बाप के भाई के और खाविन्द के
ताने तिश्नों को सुनना तमाम उमर।
बच्चे जनना सदा, भूखे रहना सदा
करना मेहनत हमेशा कमर तोड़ कर
और बहुत से जुलमों सितम औरत के हिस्से आते हैं
कमजोरी का उठा फायदा गुण्डे उसे सताते हैं।
दरोगा और नेता वेता दूर से यह सब तकते हैं
क्योंकि रात के परदे में वह खुद भी यह सब करते हैं।
औरत की हालत का यह तो जाना माना किस्सा है
और झलकियाँ आगे देखो जो जीवन का हिस्सा है।
(औरत दायरे से उठती है, हाथ में कुछ किताबें लिए हुए)

औरत : मैं औरत का एक और रूप हूँ। स्कूल पास किया है मैंने। घर वालों को बहुत मुश्किल से रोज कालेज भेजने के लिये राजी किया है। वहीं जा रही हूँ दाखिला कराने।
(बाकी अभिनेता इंटरव्यू पैनल का दायरा बनाते हैं।)

पहला : ट्रिन.... ट्रिन।

दूसरा : नेक्स्ट।

तीसरा : अगले कैंडीडेंट को अंदर भेजो।
(औरत पैनल के दायें से अंदर आती है। आखिर तक वहीं रहती है)

औरत : नमस्ते।

चौथा : गुड मार्निंग सर कहो।

पांचवाँ : न जाने कहाँ से यह फटीचर उठ कर आ जाते हैं।

छठा : ओह दीज़ रैचिज़।

पहला : हम्म्! तुम्हारे कागजात। **(देती है)**

दूसरा : फ़िजिक्स!

तीसरा : कैमैस्ट्री!

चौथा : बायोलॉजी!

पाँचवाँ : मैथेमैटिक्स!

छठा : हिंदी??!!

पहला : व्हाट इज़ आल दिस?

दूसरा : भई, यहाँ तो मिलिट्री साईंस और वाइल्ड साईकोलोजी में ही सीटें खाली हैं।

छठा : अब तुम्हारा क्या होगा?

औरत : गुड मार्निंग सर, मुझे दाखिल कर लीजिए, मैं फीजिक्स पढ़ना चाहती हूँ।

औरत : मैं फिजिक्स पढ़ के इंजीनियर बनना चाहती हूँ।

दूसरा : तुम्हें मालूम है फिजिक्स की पढ़ाई में कितना खर्चा होता है?

दूसरा : यहाँ तो लिखा है तुम्हारे डैडी को 3500 रुपये महीना मिलते हैं।

छठा : तुम्हें मालूम है यूल ब्राईनर की प्रॉब्लम्स ऑफ फ़िजिक्स इन द वाइल्ड वेस्ट।'

चौथा : 500 रुपये की आती है, और यह किताब हर विद्यार्थी को खरीदनी ज़रूरी है।

पाँचवाँ : इसके अलावा जान हैम्बरगर की 'फंडामेट्ल्स ऑफ फ़िजिक्स इन दि ट्वन्टीथ सेंचुरी' 375 रुपये की आती है।

छठा : कालिज की महीने की फीस 200 रुपये है।

पहला : बिल्डिंग फंड के 400 रुपये।

दूसरा : लैब चार्जिज़ 450 रुपया महीना।

तीसरा : कुल मिलाकर 1050 रुपये।

चौथा : दे पाओगी?

औरत : हाँ जी, कुछ न कुछ करूंगी, ट्यूशन पढ़ाकर दूंगी।

तीसरा : ट्यूशन पढ़ाओगी तो अपनी पढ़ाई कब करोगी (सब हंसते हैं) फेल हो गयी तो कालिज का नाम बदनाम होगा।

पाँचवाँ : खैर तुम्हें दाखिल किया जाता है।

पहला : पर इतना याद रखना इस कालिज के अपने नियम हैं एक परंपरा है।

चौथा : लड़कियाँ लड़कों से बात नहीं करतीं।

पाँचवाँ : लड़कियाँ कैंटीन में नहीं जातीं।

दूसरा : राजनीतिक और हड़तालें बिल्कुल बर्दाश्त नही की जातीं, समझ गयी?

तीसरा : जाओ कल से क्लास में आना।

सब : बाहर फीस जमा कर दो।
(सब अभिनेता बैठते हैं।)

औरत : खैर दाखिला हुआ, पर आज कल लड़कियों के लिए कालिज आना जाना कोई हंसी खेल नहीं है। लगता है पूरा शहर शोहदों और गुन्डों से भरा पड़ा है। लड़की देखते ही भेड़ियों की तरह झपटते हैं। **अभिनेता उछलकर नाचते हैं। काला चश्मा, गले में भड़कीले रूमाल बांधे, पंडित का पार्ट करने वाला पुलिस कैप लगाये, हाथ में छड़ी लिए खड़ा होता है, बाकियों को देख मुस्करा कर दुमके लगाता है।)**

गुण्डे (गाते हैं) चली गोरी कालिज से घर को चली।
(तीनों उसके साथ छेड़खानी करते हैं।)

औरत : ऐ पुलिस वाले, खड़े दाँत क्या निकाल रहे हो? रोकते क्यों नहीं इन्हें?
(गुंडे पहले डर कर 'पुलिस पुलिस' चिल्लाते भागते हैं। फिर जेब से एक नोट निकाल कर पुलिस वाले को देते हैं। पुलिस वाला पलट कर औरत की तरफ बढ़ता है।)

पुलिस : अरी तमीज से बात कर, बड़ी आई है दरोगन। ऐसी ही सीता है तो घर में बैठ, क्यों भटक रही है गली कूचों में, और यह सब पसंद नहीं तो टैक्सी में आया-जाया कर।

गुण्डे : टैक्सी टैक्सी
(सब अपनी मुद्रा में थम जाते हैं।)

सूत्रधार : यह रोज़ ही होता है, शहरी हंसते रहते हैं। शरीफ आदमी गुंडों से घबराते हैं और पुलिस में तो वर्दीधारी गुंडे ही भरे पड़े हैं।

(पुलिस और गुंडे बैठ जाते हैं)

औरत : कालिज की पढ़ाई किसी तरह राम राम करके खतम हुई, बड़े घरों से आने वाले फर्राटे से अंग्रेजी बोलने वाले लड़के - लड़कियों को अच्छे

नम्बर मिले। मैं रो-धो कर पास हुई तीसरी श्रेणी में। फिर नौकरी की तलाश। एक जगह से इंटरव्यू का बुलावा आया। अंदर गयी तो देखा कल तक कालिज में आवारागर्दी करने वाला एक सेठ का लड़का आरामकुर्सी पर बैठा था, वही मालिक था उस दफ्तर का जहाँ नौकरी निकली थी। लेकिन मैं समझ नहीं पायी कि इंटरव्यू लेने वाला मेरे शरीर में दिलचस्पी रखता था या मेरी डिग्री में।

(पहला गुंडा मालिक बन कर आता है)

गुंडा : हम्....मिस आपकी तो सैकंड डिवीजन है, कम्प्यूटर में क्या आता है?

औरत : सर मुझे कम्प्यूटर नहीं आता।

गुंडा : तो फिर क्या आता है? दफ्तर के कामकाज का पन्द्रह साल का अनुभव है?

औरत : सर अभी तो मेरी उम्र ही 20 साल की है। वैसे कालिज में, मैंने फ़िज़िक्स और कैमेस्ट्री पढा था। वह सब याद है मुझे।

गुंडा : फ़िज़िक्स? कैमिस्ट्री? फिर तो आप काले को सफेद और सफेद को काला करना जानती होंगी?

औरत : जी? मैं समझी नहीं।

(गुंडा लड़की को अपने आगोश में लेने की कोशिश करता है)

गुंडा : इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का धंधा होता है यहाँ। रोज काले को सफ़ेद और सफ़ेद को काला करना पड़ता है। (औरत थप्पड़ मारती है) आपकी शिक्षा किसी काम की नहीं। आप जा सकती हैं।

(बाकी सब दोहराते हैं, 'आप जा सकती हैं'। पहला गुंडा दायरे में बैठता है।)

औरत : 'आप जा सकती हैं' हर जगह यही जवाब मिलता है, अब इस बी.एस. सी. की डिग्री का क्या करूं?

(सभी पात्र खड़े होकर जुलूस बनाते हैं।)

एक दिन मैंने देखा, नौजवानों का जुलूस। बहुत से लड़के लड़कियाँ। मैं भी उनके साथ शामिल हो गयी।

(जुलूस में जा मिलती है। नारे लगते हैं : बेरोजगारी दूर करो...बेरोजगारी दूर करो...बेरोजगारी दूर करो...)

औरत : अचानक पुलिस आ गयी **(पात्र खुद को लाठियों से बचाने का अभिनय करते हैं)** एक-एक को दस-दस ने दबोच लिया। मुझ पर भी लाठियाँ पड़ीं। औरों के साथ डाल दिया गया जेल में। **(पात्र खड़े होकर हाथ ऊपर उठाये एक जेल के कमरे की तरह खड़े होते हैं। उनके बीच में कैद औरत।)** जानते हैं क्यों? दंगा करने के अपराध में। मैं समझ नहीं पाई कि ऐसा क्यों हुआ। मुहल्ले में बदनामी हुई, बिरादरी में नाक कटी। पर नौकरी के नाम पे वही ढाक के तीन पात। चार दिन जेल काटने के बाद घर आई तो पिता जी कहने लगे-
(बाप का अभिनय करने वाला अभिनेता उठता है।)

बाप : लड़की बदचलन हो गयी है। मैं न कहता था मत भेजो कालिज, बाहर की हवा लगते ही पर निकल आयेंगे। अब मैं बिरादरी को क्या मुंह दिखाऊंगा। ऐसी लड़की को भला, वर कहाँ मिलेगा। हे राम अब तू ही कुछ कर।
(दोनों बैठे जाते हैं। सूत्रधार उठता है।)

सूत्रधार : बीबी हो, माँ हो, या हो वो किसी घर की बेटी।
कालिज में पढ़ने जाती हो, चाहे कोई लड़की।
हर जगह इस समाज में रहती है वह पीछे।
मुंह पर लगे हैं ताले, नज़र उसकी है नीचे।
पर सबसे बुरा हाल है उस बदनसीब का
करके मजूरी जो कि चलाती हो जीविका।
स्कूल में हो, फैक्ट्री में, या हो खेत में
रहती है हमेशा ही जुल्म की चपेट में।
आओ दिखाऊँ तुमको मैं इक ऐसी ही नारी
कि फैक्ट्री में काम जो करती है बेचारी।
(सूत्रधार और दो अभिनेता तथा औरत फैक्ट्री में काम करने का अभिनय करते हैं। मालिक का अभिनय करने वाला अभिनेता आता है।)

मालिक : बुढ़िया, क्या हाथ टूट गए हैं तेरे? हट्टी - कट्टी नजर आती है फिर भी हरामखोरी।
(औरत और ज्यादा जोर से काम करती है।)

मालिक : अरी नहीं है तेरे बस का तो घर बैठ, और सैकड़ों मिल जायेंगे, बाहर लाइन लगाये खड़े रहते हैं।

औरत : सब के बराबर का काम करती हूँ, फिर भी कम दिहाड़ी देते हो। ऊपर से यह डांट डपट, यह कहाँ का न्याय है।

मालिक : जबान चलाती है हरामजादी **(मारने के लिये छड़ी उठाता है)**

सूत्रधार : ए.ए. सेठजी होश में।

दूसरा मजदूर : हाथ न उठाना

तीसरा मजदूर : बहुत बुरा होगा। बताए देते हैं, हाँ।

मालिक : अच्छा बेटा, अभी दिखाता हूँ यहाँ का मालिक कौन है।
ए बुढ़िया बाहर निकल, आज से तेरी नौकरी खत्म।

औरत : नहीं सरकार, ऐसा जुल्म मत करो। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। मेरे बच्चे भूखे मर जायेंगे।

सूत्रधार : अरे हाथ क्यों जोड़ती है, क्यों खुद को गिराती है? यूनियन किस काम आएगी, मजाक समझ रखा है जब मरजी जिस को निकाल देंगे। तू अरजी लिख, हम सब तेरे साथ हैं।

औरत : न भैया, यह सब मुझसे नहीं होगा। हमारे यहाँ औरतें चिट्ठी न लिखा करें, बिरादरी में नाक कट जाएगी। मैं जाकर सेठजी से माफी माँग लूंगी, भगवान ज़रूर कुछ करेंगे।

दूसरा : अरी भगवान ही तेरे होते तो इस बुढ़ापे में दो रोटी के लिए यह दिन दिखलाते? तू लड़, हम सब तेरे साथ हैं।

औरत : क्यों मेरे दुश्मन बने हो? तुम्हारा तो काम ही है फिजूल में हुल्लड़बाजी करना। बहाना मिलना चाहिए झगड़े का। मेरे पास न लड़ने की ताकत है न फुरसत। मैं सेठ जी से माफी माँग लूँगी।

तीनों : मान जा।
(औरत दौड़ कर मालिक के पास जाकर पैरों पर गिर पड़ती है)

औरत : सरकार, मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ। मुझसे गलती हो गयी। इन लोगों की वजह से मुझ पर क्यों नाराज होते हो। मेरा पूरा घर बार तुम्हारी ही दया पर जिंदा है। मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ सरकार।

मालिक : बुढ़िया, मुंह से निकली बात पत्थर की लकीर है। कह दिया - नहीं है तेरे लिए नौकरी। जा अपने हिमायतियों के पास, माँग उनसे नौकरी। हिम्मत है तो रखवा दें काम पर।

औरत : सरकार....

मालिक : (चिल्ला कर) चली जा....

तीनों : **(दर्शकों से)** भेडिये से रहम की उम्मीद छोड़ दे।
अपनी इन सदियों पुरानी बेड़ियों को तोड़ दे।
आ चुका है वक्त अब इस पार या उस पार का
राज़ जाहिर हो चुका है असली जिम्मेदार का।
(औरत लड़खड़ाते कदमों से वापस आती है। मज़दूर, औरत को बीच में करके, नारे लगाते हैं)

मजदूर : हर जोर जुलम की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है।

मालिक : ए, यह काम कैसे रुक गया, चलो, काम से लगो। ये मेरा आर्डर है।

सूत्रधार : जब तक इसे काम पर नहीं लोगे काम शुरू नहीं होगा।

मालिक : कह दिया इस बुढ़िया के लिए कोई जगह नहीं है।

तीनों : तो पूरी हड़ताल होगी।

मालिक : अच्छा, यह तेवर है। **(चीखता है)** शेरा, पुलिस **(बाकी तीनों अभिनेता भागे आते हैं, मालिक के इशारे पर तीनों मजदूरों पर वार करते हैं। वह गिरते हैं। औरत झुक कर लाल झंडा उठाती है।)**

औरत : हर जोर जुल्म की टक्कर में संघर्ष हमारा नारा है।
हर जोर जुल्म की टक्कर में....
(सभी अभिनेता उठकर नारा लगाते हैं)

सब : संघर्ष हमारा नारा है।

सूत्रधार : यह वक्त की आवाज है। मिल के चलो
(सब गाते हैं) यह जिंदगी का राज है, मिल के चलो।
मिल के चलो, मिल के चलो, मिल के चलो...

NOTE